ॐ

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्ताम् । न्यायेन मार्गेण म
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यम् । लोकाः समस्ताः
कालें वर्षतु पर्जन्यः । पृथिवी सस्यशालिनी
देशोऽयं क्षोभरहितः ब्राह्मणास्सन्तु निर्भया

दशमोऽध्यायः।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्

ॐ असतो मा सद्गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्मा अमृतं गमय ॥

ॐ

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमु
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशि

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥
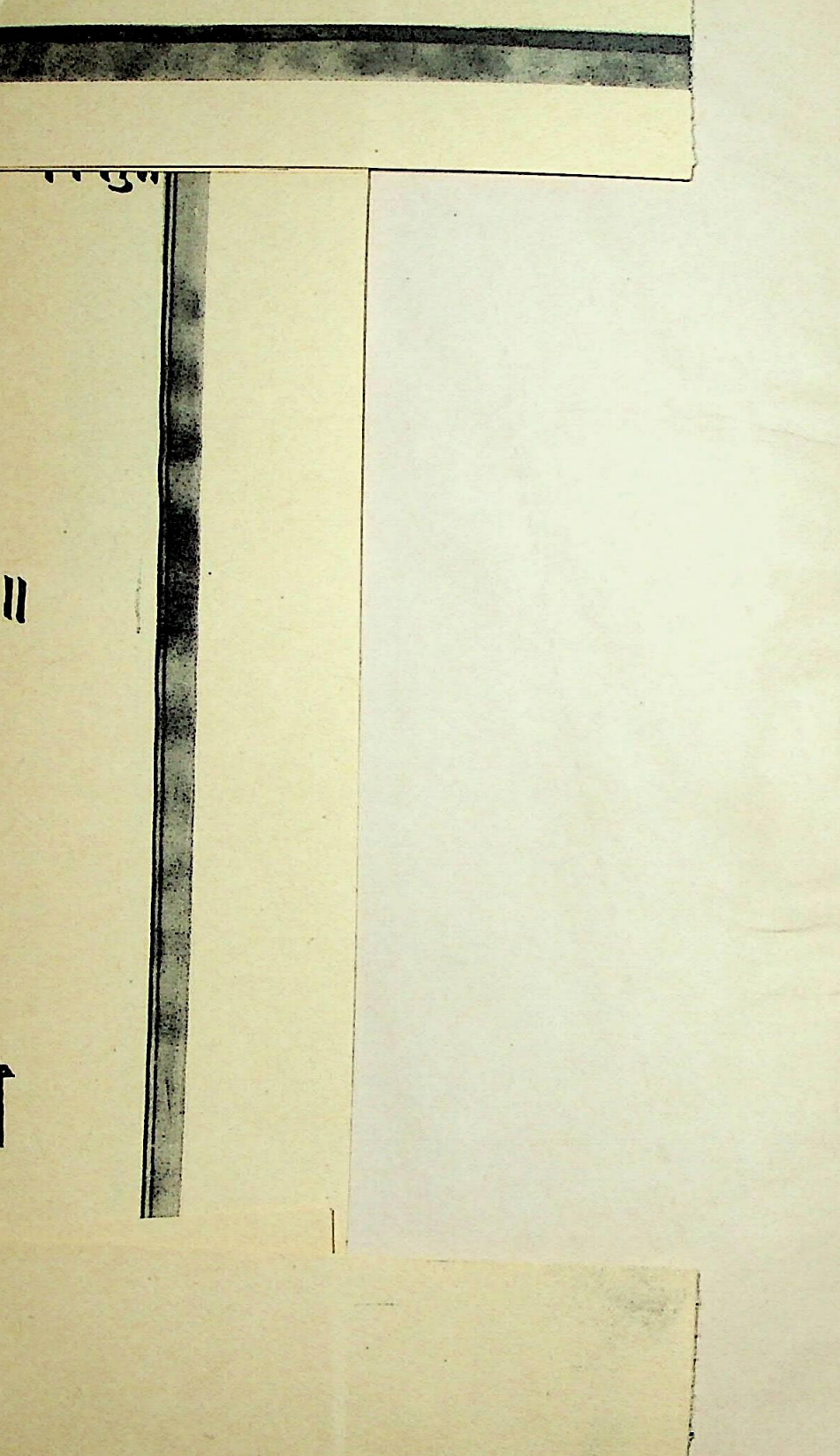
श्रीमद्भगवद्गीता

(गीतामृतमञ्जूषा)

दशमोऽध्यायः

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द
सरस्वती महाराज का प्रसाद

गीतामण्डली

माधवीकुञ्ज

५०, शिवकुटी, पो० केवलरीलाइन्स

इलाहाबाद—४

प्रकाशक :

प्रोफेसर निशीथ कुमार तरफदार, बी० ए०

बिहार कॉलेज ऑफ इंजिनियरिंग

पटना—५ (बिहार)

मुद्रक :

नरेन्द्रकुमार प्राणलाल आचार्य

आचार्य मुद्रणालय

कर्णघण्टा, वाराणसी—१

प्राप्तिस्थान

१—अध्यक्ष, गीतामण्डली,
५० शिवकुटी, इलाहाबाद—४

२—श्री शिवशंकर स्वामी
२३ पुराना किला, लखनऊ

३—श्रीमती छबि बोस
३ ए/११ आजाद नगर, कानपुर

४—श्रीमती रमा मित्रा
११२/२४८ स्वरूपनगर, कानपुर

५—श्रीमती उमादानी
द्वारा श्री डी. आर. दानी, लक्ष्मी निवास, सिविल लाइन्स, मुरादाबाद

६—प्रो० निशीथ कुमार तरफदार बी० ई०
बिहार इंजिनियरिंग कालेज,
पटना ५ (बिहार)

७—डॉ० मदन मोहन,
रमा आई हौस्पिटल,
१० कान्वैंट रोड, देहरादून

८—श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, एडवोकेट,
प्रभु टाऊन, रायबरेली

९—श्रीमती माधवी कर,
द्वारा डॉ. एच.एम. कर
सिविल सर्जन, मिर्जापुर

१०—श्री एस. सी. मित्र, १४ बी०, तिलक ब्रिज, आफिसर्स रेलवे कॉलोनी नगर, न्यू दिल्ली—१

११—श्री रामकुमार रस्तौगी
धामपुर (बिजनौर)

विज्ञप्ति

भगवान् की असीम कृपा से परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द सरस्वती महाराज द्वारा प्रणीत **"गीतामृतमञ्जूषा"** का **दशम अध्याय (विभूतियोग)** प्रकाशित हो रहा है। सप्तम अध्याय के परिशिष्ट में दशम अध्यायका भी तात्पर्य दिया गया है। उस तात्पर्य के साथ यदि इस अध्याय की स्वामीजी कृत विस्तृत व्याख्या को मिलाकर पाठक मनन करें तो अध्याय का रहस्य अधिक सुगमता से विदित हो सकेंगे।

पूर्व अध्याय की विज्ञप्ति में जिन जिन सज्जनों के प्रति गीतामण्डलीने कृतज्ञता प्रकाश की थी दशम अध्याय के सम्बन्ध में भी उनके प्रति उसी प्रकार कृतज्ञता का प्रकाश किया जा रहा है।

जिन दानवीर महापुरुषों की सहायता से पीछले कई अध्यायों का प्रकाशन सम्भव हुआ है, यह अध्याय भी उनकी निःस्वार्थ सहायता से ही प्रकाशित हो रहा है इसलिए गीतामंडली उनके प्रति बारंबार कृतज्ञता प्रकाश कर रही है।

इति

श्रावणोपूर्णिमा—संवत् २०२८
ता० ६–८–१९७१

श्रीनिशीथ कुमार तरफदार
सचिव, गीतामण्डली
इलाहाबाद।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भगवद्गीता

दशमोऽध्यायः

"विभूतियोगः"

[सप्तम, अष्टम तथा नवम अध्याय में तत्पदार्थ भगवान् का सोपाधिक (सगुण) तथा निरुपाधिक (निर्गुण) तत्त्व दिखाया गया है एवं नवमाध्याय में विशेषतः उस तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का अन्तरंग साधन जो भगवद्भक्ति है उसका वैभव अथवा माहात्म्य दिखाया गया है। सप्तमाध्याय में 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय' इत्यादि श्लोक में (७।८–१२) एवं नवम अध्याय में 'अहं क्रतुरहं यज्ञः' इत्यादि श्लोक में (९।१६–१९ श्लोक में) भगवान् की विभूतियों का भी संक्षेप में उल्लेख किया गया है क्योंकि ये विभूतियाँ सोपाधिक ब्रह्म के (सगुण ईश्वर के) ध्यान में सहायक हैं एवं निरुपाधिक (निर्गुण) ब्रह्म के सम्बन्ध में तत्त्वज्ञान लाभ करने के लिये भी (बहिरंगसाधन के रूप से) उपयोगी होती हैं, जिससे सोपाधिक ब्रह्म का ध्यान और उपयोगी हो सके, इसलिए भगवान् की विभूतियाँ और भी विस्तृत रूप से इस दशम अध्याय में वर्णित की गई हैं क्योंकि सोपाधिक ब्रह्म का ध्यान द्वारा ही निर्विशेष ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है। पुनः उस निरुपाधिक ब्रह्म का तत्त्व अत्यन्त दुर्विज्ञेय होने के कारण उसके सम्बन्ध में भी बार-बार उपदेश देना आवश्यक है, इसीलिए वह तत्त्व पुनः इस दशम अध्याय में कहा जा रहा है]

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रियमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

अन्वयः—श्रीभगवान् उवाच । हे महाबाहो ! भूयः एव मे परमं वचः शृणु यत् प्रीयमाणाय ते अहं हितकाम्यया वक्ष्यामि ।

अनुवाद—श्री भगवान् कहते हैं—हे महाबाहो ! तुम मेरे परम (उत्कृष्ट) वाक्य पुनः श्रवण करो । मेरे वाक्यों को सुनने में तुम प्रीतिलाभ कर रहे हो इस कारण तुम्हारी हित कामना के लिये (ताकि दुर्विज्ञेय परमात्मा का तत्त्वज्ञान तुम्हें प्राप्त हो इसलिए) मैं अब यह बात कहूँगा ।

भाष्यदीपिका—हे महाबाहो !—तुमने अपने महान् बाहु के प्रभाव से सर्वलोकेश्वर महादेव को भी पराजित किया था, अतः तुम जो मेरे उपदेश से शासित हुई बुद्धि के प्रभाव से अज्ञानरूप शत्रु को जय कर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर अपना हितसाधन करोगे इस विषय में संशय क्या रह सकता है ? इस प्रकार प्रोत्साहन देने के लिए भगवान् ने अर्जुन को 'महाबाहो' कह कर सम्बोधन किया । भूयः एव—फिर भी [यद्यपि पहले ही यह कहा गया है तथापि पुनः] मे—मेरे परमं वचः—परम अर्थात् प्रकृष्ट वाक्य । "परः (परब्रह्म) मीयते (ज्ञायते) अनेन इति परमम्" अर्थात् जिस वाक्य के द्वारा निरतिशय परमार्थ वस्तु का प्रकाश हो सकता है उस वाक्य को 'परमं वचः' (श्रेष्ठ वचन) कहा जाता है । उस प्रकार के वाक्य को शृणु—श्रवण करो यत्—जो परम वाक्य प्रीयमाणाय ते—अमृतपान कर जिस प्रकार लोग अत्यन्त प्रीतिलाभ करते हैं (प्रसन्न होते हैं) उसी प्रकार मेरे वाक्य को श्रवण करने में तुम प्रसन्न होते हो, इसलिए तुमको अहम्—तुम्हारा परम सुहृत सर्वेश्वर मैं हितकाम्यया—[तुम्हारी इष्टप्राप्ति की इच्छा कर (मधुसूदन)] तुम जो हित (अर्थात् परम कल्याणकर अथ च दुर्विज्ञेय तत्त्वज्ञान) प्राप्त कर इस अशुभ संसार-प्रवाह से मुक्त हो सको, उसी हित की इच्छा से वक्ष्यामि—कहूँगा अर्थात् कह रहा हूँ ।

टिप्पणी । (१) श्रीधर—

उक्ताः संक्षेपतः पूर्वं सप्तमादौ विभूतयः ।
दशमे ता वितन्यन्ते सर्वत्रेश्वरदृष्टये ॥

[पहले सात, आठ आदि अध्यायों में संक्षेप से विभूतियों का प्रतिपादन किया गया। अब दशवें अध्याय में सर्वत्र ईश्वरदृष्टि जिससे हो सके उसी उद्देश्य से उन विभूतियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है।]

इस प्रकार ७–९ अध्यायों के द्वारा भजने योग्य परमेश्वर के स्वरूप का निरूपण किया गया तथा उनकी विभूतियों का भी सातवें अध्याय में 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय' इत्यादि श्लोकों द्वारा संक्षेप में दिखाया गया। आठवें अध्याय में भी 'किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मम्' इत्यादि श्लोकों द्वारा अर्जुन के लिए जिन सात पदार्थों का उल्लेख किया गया, वे परमेश्वर की विभूतियाँ ही हैं क्योंकि 'साधिभूताधिदैवम्' (अभिभूत के सहित, अधिदैव के सहित) यह कहा गया है। नवें अध्याय में भी 'अहं क्रतुरहं यज्ञः' इत्यादि श्लोकों द्वारा भी उनकी विभूतियाँ ही दिखायी गई हैं। इसके पश्चात् अब उन्हीं विभूतियों तथा अपनी भक्ति की आवश्यक कर्तव्यता का वर्णन करने की इच्छा कर श्रीभगवान् कहते हैं 'भूय एव महाबाहो' इत्यादि।

महाबाहो—हे महाबाहो ! [युद्धादि स्वधर्म के अनुभव में अथवा महापुरुषों की सेवा करने में तुम्हारे दोनों हाथ महान् अर्थात् कुशल है इसलिये तुम महाबाहु हो] भूयः एव मे परमं वचः शृणु—फिर भी तुम मेरे परम (पारमार्थिक) वचन सुनो। [जो वचन केवल परम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये उपयोगी है वह परम या परमार्थनिष्ठ वचन है। इस प्रकार के वचन तुमको मैंने पहले भी कहा है एवं अब भी फिर कह रहा हूँ तुम उसे सुनो। क्यों पुनः उसको कह रहे हो ? इसके उत्तर में कहते हैं–] यत् प्रीयमाणाय ते अहं हितकाम्यया वक्ष्यामि—यह वचन तुम्हारे समान मेरे विशिष्ट भक्तों के हितकी कामना से (इच्छा से) कहूँगा क्योंकि तुम मेरे वचनामृत से ही प्रीयमाण (अर्थात् प्रसन्नता का अनुभव करने वाले) हो।

(२) शंकरानन्द—पूर्ववर्ती अध्याय के अन्त में अर्थात् नवम अध्याय के अन्त में 'मन्मना भव मद्भक्तः' (मन्मना होओ मद्भक्त होओ') इस उक्ति के द्वारा अर्जुन के प्रति भगवान् ने यह कहा है कि हे मुमुक्षु अर्जुन तुम चित्तशुद्धि के निमित्त एवं उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान के द्वारा कैवल्यसिद्धि के लिये मुझ सविशेष ब्रह्म की उपासना करो अब मन्दबुद्धि सम्पन्न उसी मुमुक्षु को तीव्र मोक्षेच्छा के द्वारा अपनी (ईश्वर की) उपासना में शीघ्र प्रवृत्त करने के उद्देश्य से अपनी उपासना के फल का तथा उपास्य परमात्मा की सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता, सर्वार्थदातृता, भक्तजनों के ऊपर अनुग्रह-

कर्तृता एवं विभूतिविशेष का प्रतिपादन करने के लिए दशम अध्याय का प्रारम्भ किया जा रहा है। इसमें पहले श्रोता अर्जुन की उपासना में रुचि उत्पन्न करने के लिए तथा मनोरंजन के लिए (मन की प्रसन्नता उत्पादन कर प्रोतसाहन देने के लिये) श्रीभगवान् 'भूयः' इत्यादि के द्वारा कह रहे हैं। **महाबाहो**—हे महाबाहो ज्ञातव्य वस्तु परम सूक्ष्म, दुर्विज्ञेय एवं सम्पूर्ण रूप से व्यवहार का अविषय है इसलिए भूयः एव- पुनः फिर उसी का बोधन कराने के लिए **मे** - मेरे **परमं**—परम अर्थात् परमार्थविषयक अर्थात् परमार्थकी निष्ठा की सिद्धि जिससे होती है उस **वचः**—वचन को **शृणु**—सुनो उसको सुनकर, उसका अर्थ ज्ञात होकर मैं त्राण पाऊँगा, इसप्रकार की अभिलाषा से उसके सुनने में **प्रीयमाणाय**—प्रीति करने वाले हो अर्थात् सुनने के लिये उत्सुक हो अतः तुमको **हितकाम्यया**-तुम्हारे हितकी कामनासे अर्थात् नित्य निरतिशय सुख के सम्पादन की इच्छा से **यत् वक्ष्यामि**—जो कहूँगा, उसे सुनो इसके द्वारा सूचित किया कि इस वचन का श्रवण एवं मनन कर तथा उसके तत्त्वको जानकर मैं संसार सागर से तर जाऊँगा इस प्रकार जो श्रद्धावान् पुरुष केवल मोक्ष की कामना करता है उसको ही तत्त्व का उपदेश प्रदान करना चाहिए।

(३) नारायणी टीका—सप्तमाध्याय में तत् पद का वाच्यार्थ अर्थात् सोपाधिक ब्रह्म या ईश्वर तत्त्व निरूपित हुआ है अर्थात् ब्रह्म की उपाधि जो परा तथा अपरा प्रकृति है उनका वर्णन कर उस सोपाधिक ब्रह्म की उपासना के लिये 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय 'श्लोकों' के द्वारा भगवान की विभूतियो का भी उल्लेख किया गया है। उन विभूतियुक्त ईश्वर ही जीव देहमें यज्ञपुरुषरूप से विद्यमान है। यह 'अधियज्ञोऽहमेवात्र' इत्यादि से निर्देश कर आहार-विहारादि सभी कर्मों से उस यज्ञपुरुष की उपासना करने से क्रममुक्ति प्राप्त होती है यह अष्टमाध्याय में स्पष्ट किया गया। नवम अध्याय में तत् पद का लक्ष्यार्थ निरुपाधिक ब्रह्म का तत्त्व या स्वरूप निरूपित हुआ है। वही ज्ञेय ब्रह्म का स्वरूप है जिसका साक्षात्कार होने पर जीवन्मुक्ति-अवस्था तथा मृत्यु के पश्चात् सद्योमुक्ति प्राप्त होती है। निरुपाधिक होने पर भी उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा में ही सब कल्पित जगत् रज्जु में सर्पभ्रान्ति के समान प्रतीत हो रहा हैं। अतः जगत् के प्रति वस्तु की पारमार्थिक सत्ता वही परमात्मा (परब्रह्म) है अर्थात् जगत की दृष्टि से वह विश्वतोमुख है। इस विश्वतोमुख (विश्वरूप) भगवान् की उपासना करने से उनके निरुपाधिक स्वरूप का ज्ञान होता है। इसलिये नवमाध्याय में भी 'अहंक्रतुरहं यज्ञः' इत्यादि द्वारा

विभूतियों का वर्णन किया गया है। सप्तम, अष्टम तथा नवम अध्यायों में जो कुछ संक्षेप से कहा गया है वही विशेषरूप से अब दशमाध्याय में कहा जा रहा है। श्री भगवान् कहते हैं तत्त्वज्ञान का अवधारण करना अति कठिन है। अतः यद्यपि मैंने इसके सम्बन्ध में तुमको कहा तथापि उस विषय में तुमको मैं फिर उपदेश दे रहा हूँ यह परम वचन है क्योंकि इससे तुम निर्विशेष परब्रह्म का यथार्थ स्वरूप के ज्ञानको प्राप्त होकर तुम्हारे जीवन का परम हित मोक्ष को सम्पादित कर सकोगे। अतः तुम (सावधानता के साथ) उसे पुनः श्रवण (तथा मनन) करो तुमको यह उपदेश बार बार दे रहा हूँ, इसका कारण यह है कि तुम इस ब्रह्मविद्या के अधिकारी हो। गुरु के प्रति जो असूयारहित (दोष दृष्टिहीन) है एवं गुरु के प्रति जिनकी पूर्ण श्रद्धा है तथा जो प्रीतियुक्त होकर गुरु के वचन अमृत के समान पान कर तृप्ति का अनुभव करते हैं, वे ही गुरु का उपदेश जीवन में ठीक-ठीक पालन कर कृतार्थ हो सकते हैं। तुम भी मेरे प्रति दोषदृष्टिहीन हो। (गीता ९।१) फिर तुम महाबाहु (महाशक्तिशाली) भी हो, इसलिये तुम्हारे हित की सिद्धि की इच्छा से मैं तुमको फिर उपदेश दे रहा हूँ। जो लोग शक्तिहीन है (विशेषतः मानसिक बल से रहित है) वे लोग आत्मतत्त्व जानने में समर्थ नहीं होते हैं, इसलिये ही श्रुति मैं कहा गया है 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः (मा० उ०)। अतः तुम्हारे जैसे उत्तमाधिकारी को पुनः परमात्मतत्वज्ञान मैं तुम्हारे हित के लिये कह रहा हूँ।

प्रश्न होगा तुम्हारे नहीं कहने से भी अन्य किसी ऋषिमुनि के मुख से परमवाक्य (वेदान्त महावाक्यादि) श्रवण करके मुझें तत्त्वज्ञान हो सकता है! इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि मैं स्वयं क्यों कह रहा हूँ, यह सुनो। मेरा तत्त्व मेरे विना और कोई नहीं जानता है]

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाञ्च सर्वशः ॥ २ ॥

अन्वयः—सुरगणाः महर्षयः मे प्रभवं न विदुः, हि अहं देवानां महर्षीणां च सर्वशः आदिः।

अनुवाद—ब्रह्मा आदि देवताएँ तथा भृगु आदि महर्षिगण मेरे प्रभाव को अर्थात् अतिशय प्रभुत्व शक्ति को अथवा प्रभवको अर्थात् मेरी उत्पत्ति को (अनेक विभूतियों से समन्वित होकर मैं किस प्रकार जगत में

आविर्भूत होता हूँ उसको) नहीं जानते क्योंकि मैं देवों का तथा महर्षियों का सर्व प्रकार से आदि अर्थात् कारण हूँ।

भाष्यदीपिका। सुरगणाः—ब्रह्मा इन्द्र आदि देवगण महर्षयः—भृगु प्रभृति महर्षिगण सर्वज्ञ होने पर भी मे प्रभवं न विदुः—मेरे (परमेश्वर के) प्रभव नहीं जानते हैं। प्रभव शब्द का अर्थ दो प्रकार से हो सकता है—(क) प्रभव-प्रभाव-प्रभुशक्ति का आतिशय्य अर्थात् अतुलनीय तथा अपरिमेय ऐश्वरी शक्ति (ख) प्रभव—प्रभवम्—उत्पत्ति अर्थात् जन्मरहित होने पर भी अनेक विभूतियों से सम्पन्न होकर मैं किस प्रकार से जगत में आविर्भूत होता हूँ यह। देवता तथा महर्षिगण मेरे इन दो प्रकार के 'प्रभव' नहीं जानते हैं, क्यों नहीं जानते हैं उसका कारण अब कहा जा रहा है—हि—क्योंकि अहं—मैं सर्वात्मा परमेश्वर देवानां महर्षीणां च—देवों का तथा महर्षियों का भी सर्वशः आदिः—सर्व प्रकार से आदि अर्थात् कारण मैं ही हूँ [उनके तथा अन्य सभी के उत्पादक (स्रष्टा), बुद्धि आदि का प्रवर्तक तथा सभी का निमित्त और उपादान कारण होने से मैं ही सर्वशः (सर्व प्रकार से) समस्त देवता और महर्षियों का आदि (कारण) हूँ (मधुसूदन) अतः मेरे विकारभूत वे देवता या महर्षिगण मेरा प्रभव (प्रभाव) नहीं जानते। कहने का अभिप्राय यह है कि कार्य कारण को जान नही सकता, इसलिये वे भी प्रभव को जानने में समर्थ नही होते हैं। मेरी कृपा बिना मुझको कोई जान नहीं सकता। अतः मैं मेरे महत्व को तुम्हारे समक्ष कह रहा हूँ।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—जो बात मैंने पहले कही है वह दुर्ज्ञेय है अर्थात् उसको समझना कठिन है, इसलिये पुनः कहना आवश्यक है यही सूचित करने के लिये कहते हैं—मे प्रभवं सुरगणाः महर्षयो न विदुः—मेरे प्रकृष्ट (उत्तम) भव (प्रादुर्भाव) को अर्थात् जन्मरहित होने पर भी नाना विभूतियों के सहित प्रकट होने के रहस्य को देवगण तथा भृगु आदि महर्षिगण भी नहीं जानते हैं। इसका कारण यह है कि मैं देवों का और महर्षियों का सब प्रकार से [अर्थात् उनके उत्पादक (सृष्टिकर्ता) होने से तथा उनकी बुद्धि आदि का प्रवर्तक होने से] आदि (कारण) हूँ। अतः मेरे अनुग्रह के बिना कोई भी मुझे नहीं जान सकते, यही कहने का अभिप्राय है।

(२) शंकरानन्द—यदि शंका हो कि मुझे तत्त्व का उपदेश करनेवाले व्यास आदि महान् महर्षिगण हैं, उनके परम वचन को श्रवण कर मुझे भी

ज्ञान होगा, फिर तुमको ही उपदेश देने की क्या आवश्यकता है, इसका उत्तर अब दे रहे हैं।

सुरगणाः—देवतागण अर्थात् इन्द्रादि देवता **महर्षयः**—महर्षिगण अर्थात् भृगु आदि एवं व्यास आदि महर्षिगण **मे**—मेरे अर्थात् महदादि सम्पूर्ण प्रपंच के स्रष्टा परमेश्वर के **प्रभवम्**—प्रभाव को अर्थात् सृष्टि, स्थिति, प्रलय, प्रवेश, नियमन, निग्रह, अनुग्रह, आदि के सामर्थ्य को **सर्वशः**—सर्व प्रकार से **न विदुः**—नहीं जानते हैं। यदि शंका हो कि देवता एवं भृगु आदि सभी के आदि हैं एवं दिव्य ज्ञान सम्पन्न भी हैं, फिर वे भी तुम्हारे प्रभाव को क्यों नहीं जानते ? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि समस्त **देवानाम्** देवताओं की **महर्षीणां च**—एवं महर्षियों की उत्पत्ति, वैभवसिद्धि, तपःसिद्धि, योगसिद्धि एवं दिव्यज्ञानसिद्धिका **अहम् आदिः**—मैं ही आदि (कारण) हूँ। 'तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः' ('उससे ही अनेक देवताएँ उत्पन्न हुए हैं') 'यस्मिन् युक्ता महर्षयो देवताश्च' ('जिसमें महर्षि एवं देवता युक्त हैं'), इस श्रुति के द्वारा सूचित किया गया है कि मुझसे ही उनकी उत्पत्ति एवं सर्वार्थसिद्धि होती है। इसलिए मुझसे पीछे उत्पन्न होने के कारण वे मेरे महत्त्व को नहीं जानते हैं, जिस प्रकार पिता के महत्त्वको पुत्र नहीं जान सकता है। इसलिए अपने महत्त्व का उपदेश स्वयं मैं ही दूँगा।

(३) नारायणी टीका—परमात्मा के स्वरूप को प्रकाश करनेवाला वचन (परम वचन) तो मैं महर्षिगण से नहीं तो देवता की कृपा से भी प्राप्त हो सकूँगा। उस वचन को तुमसे ही सुनना पड़ेगा, इस बात का तात्पर्य तो समझ में नहीं आता है। इसके उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं कि मैं ही सभी देवता तथा महर्षि (एवं समस्त विश्वप्रपञ्च) का आदि कारण (सृष्टि-कर्ता) हूँ। केवल सृष्टि के विषय में ही मैं आदि कारण हूँ ऐसा नहीं है मैं तो सर्वशः अर्थात् सर्व प्रकार से ही आदि (कारण) हूँ क्योंकि मैं ही अन्तर्यामीरूप से सबकी बुद्धि का प्रवर्तक हूँ अर्थात् शुद्धचैतन्यस्वरूप मेरे सान्निध्यमात्र से सबकी जड़ बुद्धि कर्मों में प्रेरित होती है। अतः जगत् का **निमित्त कारण**—मैं ही हूँ। फिर मुझको अधिष्ठानकर ही यह मायारचित देवता, महर्षि तथा अन्य सब विश्वप्रपञ्च प्रतीत होता है। अतः मिथ्या जगत् की मुझसे अतिरिक्त कोई पृथक् सत्ता न रहने के कारण मैं ही सबका **उपादान कारण**—भी हूँ। फिर मैं ही अपनी प्रकृति (माया) को वशीभूत कर अनेक विभूतियों से सम्पन्न होकर अवताररूप से आविर्भूत होता हूँ।

इस प्रकार सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी तथा विश्वरूप होने के कारण मैं सब प्रकार से सभी का आदि अर्थात् कारण हूँ। अतः देवता तथा महर्षिगण सर्वज्ञ होते हुए भी वे मेरी माया के (कल्पना शक्ति के) विकार होने के कारण तथा मुझसे पीछे उत्पन्न होने से मेरे प्रभव को अर्थात् अतिशय प्रभुत्व-शक्ति को नहीं जानते हैं। जिस प्रकार पिता स्वयं पुत्र को ज्ञान नहीं कराता है तो पुत्र कभी पिता के जन्म आदि का रहस्य जान नहीं सकता है, उसी प्रकार मेरे अनुग्रह (कृपा) बिना मेरा तत्त्व कोई भी जान नहीं सकता। इसलिये वेद में कहा है—"को वा वेद, क इह प्रावोचत्, कुत आयातः कुत इयं विसृष्टिरर्वाग्देवाः"। अर्थात् इस जगत् की उत्पत्ति किस कारण से हुई एवं किससे हुई यह कौन जानता है और कौन इस विषय में पूर्णरूप से कहने में समर्थ है ? देवता लोग भी समर्थ नहीं हैं क्योंकि वे भी बाद में ही उत्पन्न हुए हैं।

[प्रश्न होगा भगवान का वह प्रभाव किस प्रकार का है ? उत्तर में श्रीभगवान् अपने प्रभव (प्रभाव) एवं उसे जानने से जो महाफल प्राप्त होता है वह स्वयं कह रहे हैं क्योंकि अर्जुन के समान अत्यन्त भाग्यवान् पुरुष ही यह जानने का अधिकारी होता है।]

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

अन्वय—यः माम् अनादिम् अजम् लोकमहेश्वरम् च वेत्ति मर्त्येषु सः असंमूढः (सन्) सर्वपापैः प्रमुच्यते।

अनुवाद—जो व्यक्ति मुझको अनादि, अतः जन्मरहित एवं सभी के ही परमेश्वर रूप से मानते हैं मर्त्यों में (मरणशील मनुष्यों में) वह व्यक्ति असंमूढ़ होकर अर्थात् अज्ञानरूप मोह से मुक्त होकर सभी पापों से पूर्ण-रूप से मुक्तिलाभ करता है।

भाष्यदीपिका। यः—जो (भाग्यवान्) व्यक्ति माम्—मुझको परमेश्वर को अनादिम्—चूँकि मैं देवों का तथा महर्षियों का भी आदि हूँ एवं मेरा आदि (कारण) दूसरा कोई नहीं है इसलिए मैं अनादि हूँ।

अजम्—चूँकि मैं अनादि हूँ इसलिए ही मैं अज अर्थात् जन्मरहित भी हूँ क्योंकि अनादित्व ही जन्मरहित होने में कारण है। इस प्रकार जो मुझे अनादि तथा अज (जन्मरहित) लोकमहेश्वरं च—एवं लोकसमूह के

महान् ईश्वर के रूप से अर्थात् अज्ञान तथा उसके कार्य से रहित (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से अतीत) तुरीय (चतुर्थ) अवस्था से युक्त (सर्वोपाधिशून्य शुद्धचैतन्यस्वरूप) परब्रह्म के रूप से वेत्ति—जानता है अर्थात् उस प्रकार से मेरे स्वरूप की अपरोक्षानुभूति प्राप्त किया है [कहने का अभिप्राय यह है कि भगवान् सर्वकारण के भी कारण हैं, उनका आदि अथवा कारण और दूसरा कोई नहीं है अतः वे जन्म (तथा मृत्यु) रहित हैं एवं वे ही ब्रह्मा, विष्णु आदि की भी एकमात्र अधिष्ठान सत्ता है अर्थात् उनकी सन्निधिमात्र से माया की सृष्टि आदि व्यापार का सम्पादन हो रहा है, अतः वही सर्वलोक का महेश्वर भी है। माया के द्वारा सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय होते रहने पर भी वह स्वरूपतः विश्वप्रपंच से सदा ही विलक्षण है अर्थात् सर्वोपाधिरहित शुद्धचैतन्यस्वरूप तुरीय ब्रह्म ही है।] इस प्रकार तत्त्वज्ञान की साक्षात् अनुभूति होने से ही भगवान् का पारमार्थिक प्रभाव पूर्णरूप से जाना जाता है—अन्यथा नहीं। [अब भगवत्प्रभाव को जानने का फल क्या होता है ? यह कहा जा रहा है–] सः मर्त्येषु–इस प्रकार जाननेवाला पुरुष मरणशील मनुष्यों में 'मनुष्य' शब्द का तात्पर्य यह है कि मनुष्यों की ही ऐसा प्रभाव जानने की सामर्थ्य है दूसरों की नहीं। असंमूढः सन्—सम्मोहवर्जित होकर [अविद्या ही सम्यक् मोह का (अर्थात् देहगेहादि अनात्मवस्तु में आत्माभिमान का) मूल कारण है, अतः 'असंमूढः' शब्द का अर्थ है संसार के हेतुभूत अज्ञानरूप मोह से मुक्त होकर] सर्वपापैः—सभी प्रकार के पापों से अर्थात् जानबूझकर किये हुए या विना जाने किए हुए सभी पापों से प्रमुच्यते—प्रकृष्टरूप से मुक्त हो जाता है। यहाँ प्र (प्रकृष्ट) शब्द से सूचित किया गया है कि इस प्रकार मुक्त होने पर संसार बन्धन का और कोई पापपुण्यरूप बीज अवशिष्ट नहीं रहता है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—पूर्वश्लोक में जैसा कहा गया है उस प्रकार भगवान के प्रभव के ज्ञान का (स्वरूपज्ञान का) फल क्या है यह अब बताते हैं—जो मुझे अनादि अर्थात् सबका कारण होने से मेरा कोई आदि कारण नहीं है, तथा मैं अज (जन्मरहित) हूँ एवं लोकमहेश्वर (स्वर्गादि सभी लोकों का महान् ईश्वर) भी मैं ही हूँ, इस प्रकार जो जानता है वह मनुष्यों में सर्व प्रकार से मोहरहित होकर समस्त पापों से मुक्त हो जाता है।

(२) शंकरानन्द—तुम अपना महत्त्व जितना ही क्यों न कहो उसको सुनकर मेरी उससे कौन से प्रयोजन की सिद्धि होगी ? ऐसी आशंका के उत्तर में कह रहे हैं—मर्त्येषु—मरणशीलों में अर्थात् सैकड़ो करोड़ों मरणशील

पंडितों में यः—जो कोई मुमुक्षु होकर सद्‌असद्‌ विवेक एवं वैराग्यद्वारा असंमूढः—संमोह शून्य होकर (विषयसमूह इष्टताबुद्धि को संमोह करता है उससे रहित होकर) अर्थात्‌ विषयाशारूप पिशाची त्याग के वशीभूत न होकर सुख के समस्त साधनों का त्याग कर मेरे प्रसाद से सम्पन्न होकर श्रवण, मनन आदि से उत्पन्न हुए ज्ञान के द्वारा अजम्‌—मैं अज हूँ अर्थात्‌ जन्म आदि से रहित [जन्म आदि न होने में कारण कह रहे हैं] अनादिम्‌—'न तस्य कश्चिज्जनिता न चाऽधिपः'। (इसका कोई 'जनिता अर्थात्‌ सृष्टिकर्ता एवं अधिपति नहीं है') इस श्रुति से आदि [अर्थात्‌ जन्म आदिका निमित्त एवं उपादान रूप] कारण जिसका नहीं है वह अनादि है इस लिए वे अज अर्थात्‌ नित्य। अनादित्व एवं अजत्व तो खरगोशके सींग भी है, इसलिए उसमें भी नित्यत्व होगा, इस प्रकार नित्यत्व-लक्षण को अतिव्याप्ति होने के कारण अपना भावत्व, अदृश्यत्व, परम महत्त्व तथा श्रुति एवं तन्मूलक अनुमान के द्वारा ज्ञेयत्व को सूचन करने के लिए कह रहे हैं 'लोकमहेश्वरम्‌' इत्यादि। जिसकी सन्निधिमात्र से लोक समस्त जगत्‌ चेष्टा करता है वह ईश्वर है। जिसप्रकार जड़ रथ रथी से चेष्टा करता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जड़ जगत्‌ चेतन से ही चेष्टा करता है। इसलिए जगत्‌ की चेष्टारूप क्रिया से उसके हेतु चेतन में सत्त्व भावत्व एवं परममहत्त्व का अनुमान किया जाता है 'य ईशः अस्य जगतो नित्यमेव' (जो इस जगत का ईश हैं वह नित्य है) ऐसी श्रुति भी है। इसलिए जो ईश्वर अनादि, अज एवं महान्‌ हैं वह महेश्वर है अर्थात्‌ लोकमहेश्वरम्‌—सर्वलोक के महान्‌ ईश्वर के अर्थात्‌ सम्पूर्ण प्रपंच के प्रवर्तक को च 'च' कार के द्वारा उस लोकमहेश्वर कूटस्थ, असंग, चिद्रूप है यह सूचित कर रहे हैं। इस प्रकार माम्‌— मुझ निर्विशेष परब्रह्मको जो वेत्ति—जानता है अर्थात्‌ 'साक्षात्‌ यही मैं हूँ' इस प्रकार अपने आत्मरूप से जो जानता हैं वह ब्रह्मविद यति सर्वपापैः—सकल पापों से अर्थात्‌ बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक कृत समस्त पापों से तथा पापों के कार्य दुःख, दुर्योनि एवं दुर्गति से प्रमुच्यते—प्रमुक्त हो जाता है। पापसमूह से एवं पापके कार्यसमूह से उसका किंचित्‌मात्र भी सम्बन्ध नहीं होता है यही कहने का अभिप्राय है। ब्रह्मविद्‌ सर्वात्मदर्शी बुद्धिपूर्वक पापाचरण हो ही नहीं सकता है, क्योंकि ऐसा होने से वह ब्रह्मविद्‌ ही नहीं होगा-सारांश यह है कि पापपुण्य-रूप कर्म के आचरण देह, जाति तथा वर्णाश्रम आदि में 'मैं और मेरा' रूप अभिमान से ही होते हैं। इसप्रकार अभिमान विद्यमान रहने से तो वह ब्रह्मविद्‌ हो ही नहीं सकता। जो आत्मबुद्धि करता है उसी का नाम है ब्रह्मविद्‌।

ब्रह्म में आत्म बुद्धि होने से देह आदि में अहंभाव होता ही नहीं उक्त अभिमान होने से तो ब्रह्म में आत्मत्वभावना का अभाव होता है, क्योंकि तेज एवं अन्धकार के समान दोनों विपरीत प्रत्ययों का एक साथ अथवा क्रम से भी एक अधिकरण नहीं हो सकता। अनात्म में अहंभाव एवं उसके आश्रित जाति आदि में अभिमान नहीं रहने के कारण ही विद्वान् से कर्म अनुष्ठित होते रहने पर भी उसका कर्तृत्व नहीं रहता है इसलिए विद्वान् का पापाचरण बुद्धिपूर्वक नहीं हो सकता है। यदि शंका हो कि देहात्मा के द्वारा पाप कर 'मया पापं कृतम्' (मैंने पाप किया है') इस प्रकार कहीं कर्तृत्व का प्रत्यय एवं अविक्रिय ब्रह्मात्म रूप से मैं कर्ता नहीं हूँ, इस प्रकार अकर्तृत्व का प्रत्यय ये दोनों क्रम से एक ही पुरुष में हो सकता है, तो यह युक्त नहीं है क्योंकि ऐसा होने से सार्वात्म्य दर्शन के विच्छेद का प्रसंग उपस्थित होगा। इसलिए एक साथ सार्वात्म्य दर्शन तथा देह आदि में आत्मबुद्धि स्व पापाचरण—ये समस्त विद्वान् में नही हो सकते हैं। 'मैं ब्रह्मविद् हूँ, मेरा दोष नहीं है' इस प्रकार की भावना से प्राणिसमूह की हिंसा अथवा यथेष्टाचरण जो करता है वह ब्रह्मविद् ही नहीं हैं, क्योंकि 'सम्पूर्ण भूतसमूह का सुहृद्, शान्त इत्यादि ब्रह्मविद् के लक्षणसमूह का उसमें अभाव है, इसलिए बुद्धिपूर्वक पापाचरण विद्वान् नहीं कर सकता किन्तु अबुद्धिपूर्वक यदि कहीं हो भी जाय तो ज्ञान के प्रभाव से उसकी निवृत्ति हो जाती है। अतः वह 'उभय प्रकार से पाप से मुक्त होता हैं' ऐसा कहकर ज्ञान के माहात्म्य की स्तुति की जा रही है। अथवा अनादिम्—अनादि अर्थात् जन्म आदि के कारण से वर्जित है इसलिए अज—अज अर्थात् जन्म आदि सम्पूर्ण विकारों से शून्य लोकमहेश्वरम् समस्त लोकों के महान् ईश्वर अर्थात् निरतिशय ऐश्वर्यसम्पन्न तथा निग्रह एवं अनुग्रह का कर्ता च—एवं मोक्षदाता माम्—मुझको अर्थात् परमात्माको यो वेत्ति—जो जानता है अर्थात् शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश से ज्ञात होकर मोक्ष की इच्छा से जो मेरी उपासना करता है सः मर्त्येषु–मरण शीलों में अर्थात् मृत्युग्रस्तों में असंमूढः—असंमूढ़ (संमूढ़ अर्थात् सदसद्विवेक शून्य पुरुष से विलक्षण होने के कारण असंमूढ़), क्योंकि कामरूप अग्नि के द्वारा दह्यमानों में स्वयं उसका विषय नहीं होकर, मोक्ष की अपेक्षा करता हुआ श्रद्धा एवं भक्ति के साथ मेरी उपासना करता है, इसलिए उस प्रकार असंमूढ़ मेरा भक्त सर्वपापैः—समस्त पापों से अर्थात् मन, वाणी तथा शरीर के द्वारा कृत पूर्व जन्मों के तथा इस जन्म के जितने पाप हैं उनसे अर्थात् ज्ञानकी उत्पत्ति के प्रतिबन्धक

रूप से विद्यमान उन सब पापों से मेरी उपासना द्वारा प्रमुच्यते—प्रकृष्टरूप से (निःशेष रूप से) मुक्त होता है। 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' (पापकर्म का क्षय होने से पुरुष को ज्ञान उत्पन्न होता है) इस स्मृति से सत्त्वप्रधान मेरी उपासना द्वारा सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाता है, यही अर्थ है॥

(३) नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में कहा गया है कि देवगण तथा महर्षिगण अति पूज्य एवं उत्कृष्ट सात्त्विक गुणों से सम्पन्न होने पर भी मुझ परमात्मा का [अर्थात् सबके अहं (मैं) रूप से विद्यमान शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा का] प्रभाव (यथार्थ स्वरूप) तब तक नहीं जान सकते जब तक उनके देवत्व एवं महर्षित्व में (देवशरीर तथा ऋषि शरीर में) आत्माभिमान रहता है। देव, महर्षि तथा समस्त विश्वप्रपञ्च मुझमें (सबके अहं पद का लक्ष्य आत्मा में) कल्पित (अध्यस्त) होकर ही प्रतीत होते हैं, अतः उन सब अध्यस्त वस्तु की मुझसे कोई पृथक् सत्ता नहीं है। सुवर्ण जिस प्रकार हार, वलय कंगन इत्यादि अलंकारों के अणु परमाणु में विद्यमान रहने के कारण सुवर्ण को उनका उपादान कारण कहा जाता है, वास्तविक दृष्टि से सुवर्ण रूप उपादान ही वस्तु है, हार, वलय इत्यादि तो सुवर्ण को ही भूलकर नाममात्र से कहे जाते हैं, उसी प्रकार मैं ही (आत्मा ही) कल्पित होकर देव, ऋषि तथा विश्व प्रपञ्च के रूप से प्रतीत हो रहा हूँ अतः मैं इस सबका आदि अर्थात् उपादान कारण हूँ। फिर मुझसे अतिरिक्त दूसरी अन्य कोई चेतनसत्ता नहीं है, अतः इन सबका निमित्तकारण भी मैं ही हूँ। यद्यपि सृष्ट्यादि व्यापारों में मेरा साक्षात् कोई कर्तृत्व नहीं है, मुझ चैतन्य सत्ता के सान्निध्य से ही माया सृष्टि स्थिति प्रलय रूप कार्य का सम्पादन कर रही है इसलिए मुझको निमित्त कारण भी कहते हैं। इस प्रकार अभिन्न निमित्त-उपादान होने के कारण मैं सर्वशः अर्थात् सर्व प्रकार से सभी दृश्यमान वस्तु का आदि (कारण) हूँ, जब तक रज्जू में भ्रान्ति से प्रतीयमान सर्प के सम्बन्ध में सत्यत्वबुद्धि रहती है तब तक रज्जु को जाना नहीं जाता है, उसी प्रकार देव तथा महर्षियों की जब तक अपने देहेन्द्रियादि में एवं भ्रान्ति से प्रतीयमान विश्वप्रपञ्च में सत्यत्व बुद्धि रहती है, तब तक सबके अधिष्ठानरूप नित्य, सत्य मुझको वे जान नहीं सकते। सर्पत्व का मिथ्यात्व निश्चित होने पर ही रज्जु का यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है, उसी प्रकार (१) जगत् मिथ्या है (अर्थात् जीव तथा जगत् कल्पित एव आत्मा में अध्यस्त है) एवं (२) सब भूतों के शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा (मैं) ही एकमात्र सत्य वस्तु हूँ (अतः

मैं ही सबका आदि हूँ) किन्तु मैं स्वयं अनादि हूँ अर्थात् मेरा कोई कारण नहीं है क्योंकि मैं स्वयंप्रकाश हूँ। अतः मैं अज (जन्म रहित भी हूँ अर्थात् जन्म वृद्धि विपरिणाम, अपक्षय नाश आदि सर्व विकारों से रहित नित्य तथा अविकारी हूँ) एवं फिर (३) मैं ही लोक महेश्वर हूँ अर्थात् मैं लोक हूँ अर्थात् सबका प्रकाश हूँ। (लोक्यते प्रकाश्यते सर्वम् अनेन इति लोकः–जिसके द्वारा सब कुछ प्रकाशित (ज्ञात) होता है, वह लोक अर्थात् चित् (ज्ञान) या प्रकाश स्वरूप आत्मा है] फिर जो कुछ प्रकाशित हो रहा है, वह मुझ में अध्यस्त होने के कारण मुझसे पृथक् नही है। अतः वह भी मैं ही हूँ अर्थात् मैं सर्वस्वरूप हूँ। पुनः मैं ही सर्वव्यापी होने के कारण महान् (सर्वश्रेष्ठ अनन्त ब्रह्म हूँ और मैं ही सर्व भूतों के ईश्वर [अन्तर्यामी (प्रेरक) तथा कर्मफल का विधाता हूँ। अतः मैं ही अज अनादि होने के कारण सत्य स्वरूप हूँ, लोक होने के कारण ज्ञान (चित) स्वरूप हूँ और महान् होने के कारण मैं अनन्त स्वरूप ब्रह्म हूँ, महान् और ईश्वर होने के कारण मैं पूर्णरूप से स्वतन्त्र (नित्यशुद्ध मुक्त) हूँ यही मेरा यथार्थ स्वरूप है। मेरे इस स्वरूपको जानने से जो फल होता है वह श्रुति इस प्रकार कहती है—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाऽभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्॥ सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥ (तै० उ० ब्रह्मवल्ली २।१) अर्थात् जो ब्रह्म को जानता है वह परम ब्रह्म को (पर ब्रह्म के स्वरूप को) प्राप्त होता है। ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्तस्वरूप है। जो जानता है कि यह ब्रह्म अपने हृदय गुहारूप परम आकाश में आत्मा के रूप से विद्यमान है वह ब्रह्मस्वरूप होकर सर्वकाम अर्थात् परमानन्द को भोग करता है आनन्द ही कामना की एकमात्र लक्ष्य वस्तु है अतः 'सर्वकाम' शब्द से यहाँ परमानन्द को ही सूचित कर रहा है। परमानन्दप्राप्ति होने पर ही सर्व पापों (सर्व दुःखों) की निवृत्ति तथा संसार से मुक्ति होती है।] इसलिये भगवान कहते हैं जो मेरे इस स्वरूप को अपनी आत्मा से

अभिन्न रूप से जानता है वह असंमूढ़ होता है अर्थात् अज्ञान एवं तत्कार्य (विषयासक्ति, काम, क्रोध आदि रूप सम्यक् प्रकार के मोह) से रहित होता है एवं शरीर में आत्माभिमान न रहने के कारण शरीर आदि से कृत सर्व पाप से विमुक्त होता है। [संमोह किस प्रकार से उत्पन्न होता है एवं उससे किस प्रकार से मनुष्य मोक्षरूप पुरुषार्थ के अयोग्य होता है उसका भगवान ने पहले ही वर्णन किया है (गीता २।६२–६३) सर्वपाप शब्द का अर्थ है सभी पाप और पुण्य कर्म, जिसके फल रूप से पाप (दुःख) रूप संसारगति

प्राप्त होती है। पारमार्थिक दृष्टि से धर्म कर्म या पुण्य भी पाप हो है कारण उसके परिणामरूप से भी दुःखमय जन्ममृत्यु के प्रवाह में भ्रमण करना पड़ता है। देहादि में आत्मबुद्धि कर जीव जब तक अहंकारविमूढ़ होकर अपने को कर्ता मानता है (गीता ३।२७) तब तक ही पूण्य पाप रूप कर्म का फल उसको भोगना पड़ता है। और शरीरादि से विलक्षण अज, अनादि, लोकमहेश्वर, चैतन्यस्वरूप परमात्मा को अपनी आत्मा जानकर जब अज्ञान एवं तज्जनित मोह से शून्य होकर उस आत्मा की शरण लेकर आत्मा में स्थित रहता है तब वह मर्त्येषु अर्थात् मरणशील देह में देहीरूप से रहते हुए भी उसको कोई पाप और पूण्य स्पर्श कर नहीं सकते। इसलिये श्रुति कहती है—'अशरीरं वाव सन्तं नैनं पूण्यपापे स्पृशतः' और गीता में भी कहेंगे—'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि (गीता १८।६६) [एकमात्र मेरी (आत्मा की) ही शरण लेकर मुझमें चित्त समाहित रखने पर मैं स्वयं तुमको सर्व पाप से मुक्त कर दूंगा, इस विषय पर संशय मत करो।] अतः प्रस्तुत श्लोक में 'सर्वपापैः प्रमुच्यते' वाक्य का अर्थ है मेरे स्वरूप का ज्ञान होने पर अज्ञानरूप संमोह नष्ट हो जाता है एवं सर्वदुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति अर्थात् परम पुरुषार्थरूप मोक्षकी सिद्धि होती है। अतः श्लोक में 'मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते' वाक्यका तात्पर्य यह है कि (क) मरणशील लोक प्राप्त होकर भी अथवा (ख) मरणशील परिच्छिन्न मनुष्यदेह प्राप्त होकर भी (अनादि अज लोक महेश्वर ब्रह्म के साथ ऐक्यानुभव कर) सर्वपापों से पूर्णरूप से मुक्त होकर अमृत (मृत्यु से रहित) हो जाता है। श्रुति में भी इस प्रकार असंख्य वचन हैं यथा—'अथ मर्त्योऽमृतो भवति' 'यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति, (क० उ० २। ३। ८) इत्यादि।

[पूर्ववर्ती श्लोक में भगवान् ने अपने को लोकमहेश्वर कहा केवल जो सबके आदि (कारण) होने के कारण वे महेश्वर हैं ऐसी बात नहीं। इसके अन्य कारण भी हैं। यही अब विस्तृत रूप से कहा जा रहा है]

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयश्चाभयमेव च ॥ ४ ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

अन्वय—बुद्धिः ज्ञानम्, असम्मोहः क्षमा, सत्यं, दमः, सुखं, दुःखं, भवः अभावः भयं च अभयम् एव च, अहिंसा, समता, तुष्टिः तपः, दानम्, यशः, अयशः (इति एते) भूतानाम् पृथग्विधाः भावाः मत्तः एव भवन्ति।

अनुवाद—मुझसे ही प्राणियों की बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव, अभाव, भय, अभय, अहिंसा समता तुष्टि, तप, दान, यश तथा अयश ये समस्त अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं।

भाष्यदीपिका। बुद्धिः—अन्तःकरण के सूक्ष्मादि [अर्थात् सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम (आनन्दगिरि)] विषय का अवधारण या विवेक करने की (निश्चय करने की) सामर्थ्य की बुद्धि कहते है। ऐसे सामर्थ्यवान् पुरुष को ही बुद्धिमान् कहा जाता है। ज्ञानम्—आत्मादि पदार्थ का अवबोध अर्थात् आत्म तथा अनात्म पदार्थ का स्वरूप (तत्त्व) को जान लेना ज्ञान है। आत्मतत्त्वको जो जानते हैं उनको ही ज्ञानी कहा जाता है। असम्मोहः—जो विषय बोद्धव्य (जानने के योग्य) एवं कर्तव्य (करने के योग्य) हैं वे जब प्रत्युत्पन्न अर्थात् उपस्थित हाते हैं तब उन विषयों में अव्याकुलता से विवेकपूर्वक (अर्थात् आगे पीछे का विचारकर) प्रवृत्त होना 'असम्मोह' है। क्षमा—किसी के द्वारा अपनी निन्दा की जाने या ताड़ना दी जाने पर भी निर्विकार चित्त रहना (चित्त में विकार न होना) क्षमा है। सत्य—कोई विषय देखकर अथवा सुनकर अपनी जैसी अनुभूति हुई है ठीक उसी प्रकार से उस विषय को दूसरे की बुद्धि में पहुंचाने के लिए जो वाक्य का उच्चारण किया जाता है अर्थात् जो वाणी कही जाती है उसको सत्य कहा जाता है। प्रमाण द्वारा जाने हुए विषय को उसी प्रकार से कहना (प्रकाश करना) सत्य है (मधुसूदन)] दमः—बहिरिन्द्रियों को (चक्षुः कर्णादि इन्द्रियों को) अपने विषयों से (रूप शब्दादि विषयों से उपशम अर्थात् निवृत्त करना (हटाना) दम है शमः—अन्तःकरण को विषयों से उपशम अर्थात् निवृत्त करना अर्थात् अन्तःकरण की शान्ति शम है सुखम्—(अन्तःकरण के अनुकूल वृत्तिविशेष से उत्पन्न) आह्लादि। दुःखम्—(अन्तःकरण के प्रतिकूल वृत्तिविशेष से उत्पन्न) सन्ताप। भवः—उद्भव (उत्पत्ति) अभावः—भवके विपरीत अर्थात् असत्ता। भयं च—एवं भय अर्थात् त्रास अभयम् च—भय के विपरीत निर्भयता। [मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि श्लोक में 'भयं तथा अभयम्' इन दो शब्दों के बाद जो दो 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है उसमें एक 'च' उक्त सबका समुच्चय करने के

लिये है अर्थात् 'बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः' इत्यादि श्लोक में जो समस्त भाव कहे गये हैं उन सभीका समुच्चय अर्थात् सभी को एकसाथ समझाने के लिए 'च' शब्द का व्यवहार किया गया है। और अपर 'च' शब्द, जो समस्त भाव अनुक्त हैं (अर्थात् जिनका श्लोक में उल्लेख नहीं है यथा अबुद्धि अज्ञान इत्यादि) उनका भी समुच्चय कर (अर्थात् बुद्धि ज्ञान इत्यादि के साथ ग्रहण करना होगा, इस प्रकार) समझने के लिए व्यवहृत हुआ है। और 'एव' प्रसिद्धि अर्थ में व्यवहृत हुआ है अर्थात् 'ये समस्त भाव सर्वलोक में प्रसिद्ध है' यह अर्थ प्रकाश कर रहा है।] अहिंसा—प्राणियों को पीड़ा न पहुंचाना अर्थात् किसी जीव का उत्पीड़न नहीं करना। समता—चित्त का शमभाव अर्थात् अनुकूल तथा प्रतिकूल अवस्था में चित्त की राग तथा द्वेषरहित अवस्था। तुष्टिः—सन्तोष अर्थात् जो कुछ प्राप्त होता है उसमें ही पर्याप्त बुद्धि (उसको यथेष्ट समझना) तपः—इन्द्रियसंयमपूर्वक शरीरको पीड़न करना अर्थात् शास्त्रीय विधान के अनुसार इन्द्रिय तथा शरीरको सुखाना (गीता १७।१४-१७) दानम्-अपनी शक्ति के अनुसार धनका विभाग करना (दूसरों को बाँटना)। आनन्दगिरि के मतानुसार दान शब्द का यथार्थ अर्थ है उपयुक्त समय में उपयुक्त पात्र में द्रव्य वितरण करना (गीता १७-२०-२२ एवं २८ श्लोक द्रष्टव्य)। यशः—धर्म के निमित्त से होने वाली कीर्ति (लोकप्रशंसा) अयशः—अधर्माचरण करने के निमित्त अकीर्ति (लोकनिन्दा) (इति एते) भूतानाम्—प्राणियों के पूर्वोक्त बुद्धि ज्ञान इत्यादि पृथग्विधाः भावाः—नाना प्रकार के भाव [कार्य विशेष अपने कारण के साथ (मधुसूदन)] मत्तः एव—मुझसे अर्थात् सर्वात्मा परमेश्वर से ही (सन्निधिमात्र से ही) भवन्ति—प्राणियों के अपने-अपने कर्म के अनुसार होते हैं। प्रत्येक प्राणी के चैतन्य स्वरूप आत्मा की सन्निधि से ही वे जड़ भाव समूह चैतन्यवान् होकर प्रकाशित होते हैं आत्माको अधिष्ठान कर उसकी उत्पत्ति तथा नाश होते हैं, अतः सर्वात्मा परमेश्वर से वे भाव-समूह प्रकाशित होते हैं, यह कहना युक्तिसंगत ही हुआ है। यही भगवान् का लोकमहेश्वरत्व है। परन्तु आत्मा एक होने पर भी विभिन्न प्राणियों के जो विभिन्न भाव होते हैं उसका कारण यह है कि प्राणियों के अपने अपने कर्म के अनुसार विभिन्न संस्कार उत्पन्न होते हैं। उस संस्कारों के वैचित्र्य-वशतः ही प्राणियों के भावों का भी वैचित्र्य दीखा जाता है।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—पूर्ववर्ती श्लोक में भगवान ने कहा है—"मैं लोकमहेश्वर हूँ"। इस लोकमहेश्वरता को ही 'बुद्धि इत्यादि तीन

श्लोकों द्वारा स्पष्ट करते हैं बुद्धिः—सार-असार का विवेक (पार्थक्य का विवेचन करने की) निपुणता ज्ञानम्—आत्मविषयक ज्ञान असम्मोहः—मोह का (चित्त की व्याकुलता का) अभाव क्षमा–सहनशीलता सत्यम्–यथार्थ भाषण दमः—बाह्य इन्द्रियों का संयम शमः–अन्तःकरण का संयम सुखम्—"यह अनुकूल है" इस प्रकार का अनुभव दुःखम्—सुख से विपरीत भाव (अर्थात् 'यह प्रतिकूल है') इस प्रकार का अनुभव। भवः–उत्पत्ति अभावः–उत्पत्ति के विपरीत अर्थात् नाश भयम्-त्रास अभयम्–भय के विपरीत (निर्भय होना) आगे श्लोक में कहे जानेवाले 'मत्तः एव भवन्ति' (ये मुझसे ही होते हैं) इस वाक्य के साथ अन्वय है। अहिंसा–दूसरे को पीड़ा देने से निवृत्त होना। समता–रागद्वेष आदि से रहित हो जाना तथा मित्र और अमित्र में (वैरी में) समान भाव। तुष्टिः–प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ मिले उसी में संतोष तपः–शरीरादि का तप जो आगे १७ वें अध्याय में कहा जायगा। दानम्–न्याय से उपार्जित धन आदि का सत्पात्र को अर्पण। यशः–सत् कर्म से अर्जित कीर्ति (प्रशंसा)। अयशः–अपकीर्ति—ये अर्थात् बुद्धि, ज्ञान आदि तथा उसके विपरीत अबुद्धि, अज्ञान आदि नाना प्रकार के प्राणियों के भाव मेरे सान्निध्य से ही होते हैं।

(२) शंकरानन्द—अपनी (ईश्वर की) उपासना के द्वारा सम्पूर्ण पापों से निर्मुक्त हुए मुमुक्षुओं को अपने से ही (ईश्वर से ही) ज्ञान एवं ज्ञान का साधन प्राप्त होता है; ऐसा अब दो श्लोकों में भगवान् कहते हैं।

ज्ञानम्—ब्रह्म एवं आत्मा के एकत्व को विषय करता है, इस प्रकार का परोक्ष अथवा अपरोक्ष ज्ञान। बुद्धिः—बुद्धि अर्थात् 'ब्रह्म मैं ही हूँ', इस प्रकार जानने वाले पुरुष को ब्रह्ममात्रत्व निश्चयात्मिका बुद्धि। असंमोहः—"मैं ब्रह्म नहीं हूँ" इस प्रकार विपरीत भाव का पुनः उदय न होना। क्षमा–आध्यात्मिक आदि उपद्रवों की सहिष्णुता। सत्यम्–यथार्थ वचन। 'सत्य' शब्द ब्रह्मचर्य आदि का भी उपलक्षण है। दमः–बाहर की इन्द्रियों का निग्रह। शमः–अन्तःकरण का विषय-प्रवृत्ति से उपरम। अहिंसा–ब्रह्मनिष्ठा के द्वारा सर्वभूतों में विराजमान अपनी आत्मा की हिंसा न करना। समता–सर्वत्र समदर्शन। तुष्टिः–अपने (आत्मा के) आनन्द का अनुभव। तपः–चित्त की एकाग्रता दानम्–दान अर्थात् दंड का त्याग। मन के द्वारा, वाणी के द्वारा, शरीर तथा कर्म के द्वारा प्राणियों को दंड (पीड़ा) नहीं देना क्योंकि 'दंडन्यासः परं दानम्' ('दंडन्यास ही उत्तम दान है');

ऐसा स्मृतिवचन है। यशः—यश अर्थात् यह ब्रह्मविद है, इस प्रकार सर्वत्र कीर्ति (लोक प्रशंसा), अयशः—दुष्कीर्ति (लोकनिन्दा) 'अयश' शब्द अबुद्धि, अज्ञान, संमोह, अक्षमा, असत्य, अदम, अशम एवं हिंसा आदि विपरीत धर्मसमूह का उपलक्षण है। सुखम्—विषय सम्बन्धी सुख। दुःखम्—आध्यात्मिक आदि उपद्रवजनित दुःख। भवः—उत्पत्ति। अभावः—विनाश। भयम्—भूतों से त्रास। अभयम्—अभय भयका अभाव। इस प्रकार पृथग्विधाः—अनेक प्रकार से उक्त एवं अनुक्त काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, असूया, अहंकार आदि भावाः—भावसमूह अर्थात् राजस एवं तामस विकारसमूह अबुद्धि से लेकर अयश तक बन्धन के हेतुभूत गुणसमूह मेरे भजन से शून्य भूतों के (प्राणियों के) मत्त एव—मुझसे ही अर्थात् ईश्वर से ही भवन्ति—होते हैं अर्थात् उत्पन्न होते हैं। फिर बुद्धि से लेकर यश तक मुक्तिका साधन मेरे भजन करने वालों को मुझसे ही होते हैं, इसलिए मुमुक्षुओं को मेरी उपासना अवश्य करना चाहिए। मेरी उपासना के द्वारा समस्त पापों की निवृत्ति होती है एवं साधनों के साथ ज्ञानकी सिद्धि भी होती है, यही भाव है। इससे 'संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः' ('संसार मोक्ष, स्थिति तथा बन्ध का हेतु है') इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध संसारबन्धन का कारणत्व एवं संसार मोक्ष का कारणत्व का अपने में ही प्रतिपादन किया गया है। इससे मुमुक्षु के द्वारा ईश्वर भजनीय है, यह सिद्ध हुआ ४–५ इन दोनों श्लोकों का अर्थ इस प्रकार है।

(३) नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में भगवानने अपने को "लोक-महेश्वर" कहा है अर्थात् मैं लोक (सर्वप्रकाशक) हूँ, मैं महान् (सर्वव्यापी अनन्त) हूँ अतः बाहर में स्थूल दृश्य रूप में एव भीतर में सूक्ष्म वृत्ति के रूप में जो कुछ प्रतीत होता है वह सब मैं ही हूँ अर्थात् मैं सर्वस्वरूप हूँ और मैं सबका ईश्वर भी (अन्तर्यामी रूप से प्रेरक तथा शासक भी) हूँ, यह कहा है। तात्पर्य यह है जगत प्रपञ्च माया से (कल्पना शक्ति से) मुझे अधिष्ठान करके प्रतीत हो रहा है। अध्यस्त की सत्ता अधिष्ठान से पृथक् नहीं होती है अतः मैं भ्रान्ति से सर्व रूप से प्रतीत हो रहा हूँ—मैं ही उनको सत्ता तथा स्फूर्ति देकर प्रकाश कर रहा हूँ और मेरी सन्निधि से ये सब प्रेरित होकर अपने-अपने कार्य कर रहे हैं अतः मैं ईश्वर भी हूँ। अब भगवान् अपना महत्त्व अर्थात् सर्व स्वरूपत्व स्पष्ट कर रहे है बुद्धिः—अन्तःकरण के सूक्ष्मार्थ का विवेचन करने की सामर्थ्य। शास्त्रविहित कर्म आदि के अनुष्ठान द्वारा चित्तशुद्धि होने पर बुद्धि सूक्ष्मता को प्राप्त होकर जड़ दृश्यों से

चेतन आत्मा का पृथकत्व निश्चय करने में समर्थ होती है। इस प्रकार निश्चय के पश्चात् आत्मतत्त्व का जो अनुभव होता है वही ज्ञान है। ज्ञान होने से आत्मा से अतिरिक्त सभी वस्तु का मिथ्यात्व निश्चय होने पर कोई विषय की प्राप्ति के लिये व्याकुलता (मोह) नहीं रह सकती अतः आत्म तथा अनात्म वस्तु का स्वरूप ज्ञात होने पर संमोह नहीं रहता है अर्थात् असंमोह प्राप्त होता है। संमोह न रहने पर अर्थात् विषयों का मिथ्यात्व तथा एकमात्र आत्मा का सत्यत्व अनुभव होने पर (द्वैतबुद्धिका नाश होने पर) किसी से ताड़ित होने पर भी चित्त में कोई विकार उपस्थित नहीं होता है। वही क्षमा है। इस प्रकार के गुणों से युक्त विद्वान् सत्यस्वरूप आत्मा में प्रतिष्ठित रहने के कारण सत्य ही भाषण करता है। एवं उसका दम (बाह्य इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों से निवृत्ति) एवं शम (अन्तःकरण का निग्रह) स्वतः ही रहता है, अतः मन में कोई विक्षेप का कारण न रहने से वह आत्मानुसंधान में तत्पर होकर यथार्थ धर्म का आचरण करता है एवं उस के फलरूप से सुख को (आत्मा के अनुकूल आह्लादको) प्राप्त होता है। इन आठो वृत्तियाँ निवृत्तिमार्ग का अनुसरण करने वाले विद्वान् की होती हैं। अब प्रवृत्ति मार्ग में चलनेवाले पुरुषों की वृत्तियाँ कही जाती हैं। उनकी विषयासक्ति रहने के कारण इस प्रकार कार्य करना पड़ता है जो आनन्दरूप आत्मा के अनुभव के प्रतिकूल होता है। यही अधर्म है। इसके परिणाम रूप से दुःखरूप चित्तवृत्ति का उदय होता है। फिर जिसकी विषयाभिमुखी वृत्ति है उसका भव (उत्पत्ति) तथा अभव (नाश) भी अवश्यंभावी हैं और जब तक जन्म तथा मृत्यु है तब तक भय भी (आगामी दुःखके निमित्त त्रास भी) रहेगा। इस प्रकार अज्ञानी विषयासक्त जीवों की वृत्तियों को वर्णन कर पुनः मुक्तिकामी ज्ञानी के भावों को बतलाते हैं। जिस विवेकी पुरुषने आत्मा का ही सत्यत्व निश्चय किया है उसकी दृष्टि में अपनी आत्मा से अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु की सत्ता न रहने के कारण अभय सदा ही विद्यमान रहता है। अतः आत्मा से आत्मा की हिंसा करने की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः वह अहिंसा में स्थित रहता है [सर्वत्र आत्मबुद्धि न रहने से यथार्थ अहिंसा होना सम्भव नहीं है।] इस प्रकार अहिंसा में प्रतिष्ठित होने पर वह योगी स्वतः ही सर्वत्र समता को प्राप्त होता है अर्थात् शत्रु मित्र इत्यादि में समभावापन्न होता है। समत्व ही यथार्थ योग हैं (गीता २।४८) अतः चित्त का किसी प्रकार से विक्षेप न रहने के कारण सर्वदा

तुष्टि (जो कुछ प्राप्त हो जाय उसमें सन्तोष या पर्याप्त बुद्धि) रहती है। तुष्टि रहने पर मन तथा इन्द्रियों की आत्मा में एकाग्रता सम्भव होती हैं। यही परम तपः है क्योंकि महाभारत में कहा है 'मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च ऐकाग्र्यं परमं तपः'। इस प्रकार अवस्था प्राप्त होने पर जीवन का सबसे श्रेष्ठ दान सम्भव होता है अर्थात् सबसे उत्तम पात्र आत्मा में जीवात्मा का समर्पण होता हैं। जीवात्मा का परमात्मा में बलिदान होने पर ही मनुष्य जीवन की परमपुरुषार्थ की (मोक्ष की) सिद्धि होती है। इस प्रकार सिद्ध पुरुष का ही यश—चिरस्थायी होता हैं। अतः पशु के समान आहार, निद्रा, मैथुन में जो मूर्ख आसक्त रहकर दुर्लभ मनुष्य जीवन को वृथा व्यतीत करता है वह तो शिष्ट पुरुषों से निन्दित होकर बराबर अयश—ही प्राप्त होता है इस प्रकार प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्ग में चलने वाले प्राणियों के यद्यपि नानाविध विरुद्ध भाव होते हैं तथापि वे शोभनीय अथवा अशोभनीय सभी भाव परमात्मा से ही उत्पन्न होते हैं एवं उनसे वे पृथक् भी नहीं है, जिस प्रकार स्वप्न दृश्य में जितना भाव दीखते है (बुद्ध अबुद्धि, ज्ञान-अज्ञान, संमोह-असंमोह, सुख दुःख हिंसा-अहिंसा इत्यादि) वे स्वप्न द्रष्टा से ही उत्पन्न होते हैं अर्थात् स्वप्नद्रष्टा स्वयं ही उन सब विरुद्ध भावों से प्रतीत होता है। ये सब भाव मायिक हैं, अतः इनसे आत्मा के अद्वैतत्व की हानि नहीं होती हैं।

[चतुर्थ श्लोक में 'भयञ्चाभयमेव च' पद में दो 'च' शब्दों का तात्पर्य भाष्यदीपिका में स्पष्ट किया गया हैं।] इन दो श्लोकों में जो कहा हैं उनका तात्पर्य यह है कि केवल बाहर में दृश्यरूप से प्रतीत हुए भावपदार्थ को भगवान् का रूप समझकर उन भावों से भगवान् की पूजा करनी होगी यह बात नहीं हैं किन्तु बाहर तथा भीतर सब भावों को ही भगवान में समर्पण करते हुए उनकी पूजा करनी होगी। यही भगवान् आगे भी कहेंगे—'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत' इत्यादि (गीता १८।६२) अर्थात् हे भारत (अर्जुन) तुम सर्वभाव से (शरीर, वाणी तथा मन की वृत्ति से) सर्व प्रकार से ईश्वर का ही आश्रय ग्रहण कर उस ईश्वर के अनुग्रह से परम शान्ति अर्थात् मोक्ष नामक विष्णु के परम (श्रेष्ठ) धाम को प्राप्त होओगे। दुर्गा सप्तशती भी प्रमाण है कि देवताओंने स्वराज्य प्राप्त करने के लिए देवी को (महामाया को) नानाभावों से अर्थात् बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, तृष्णा, क्षान्ति (क्षमा) लज्जा, श्रद्धा, स्मृति, दया तुष्टि, भ्रान्ति इत्यादि रूप से नमस्कार किया है (सप्तशती अध्याय ५) भगवान के परमधाम (मोक्ष) प्राप्ति करने के लिए इससे सुगम उपाय और दूसरा नहीं हैं।

[मैं लोक महेश्वर का और परिचय दे रहा हूँ, सुनो—]

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।

मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

अन्वयः—पूर्वे सप्त महर्षयः, तथा चत्वारः मनवः मद्भावाः, मानसाः जाताः, लोके येषाम् इमाः प्रजाः ।

अनुवाद—सृष्टि के आदिकाल में मेरे प्रति दृढ़भक्ति-सम्पन्न सात महर्षि एवं चार मनु मेरे मन से उत्पन्न हुए हैं जिन मनु और महर्षियों की रची हुई ये और अचररूप सब प्रजाएँ लोक में प्रसिद्ध हैं ।

भाष्यदीपिका—पूर्वे—अतीतकाल सम्बन्धी (अतीत कालवर्ती अर्थात् सृष्टि के आदि काल में आविर्भूत हुए) सप्त महर्षयः तथा चत्वारः मनवः—सप्त महर्षि तथा चार मनु मद्भावाः—मद्गतभावना अर्थात् मुझमें (सर्वज्ञ सर्वेश्वर में) जो भावना अथवा चिन्ता में तत्पर रहने के कारण मेरे भाव को प्राप्त हुए थे अर्थात् मेरा (सर्वव्यापी विष्णु का) ज्ञान तथा ऐश्वर्यरूप सामर्थ्य (शक्ति) से युक्त हुए थे। [भक्त अपने भाव (भावना) के द्वारा भगवान् के साथ युक्त रहने से भगवान् के भाव का अर्थात् वैष्णवी (ईश्वरीय) शक्ति (ज्ञानैश्वर्य्य इत्यादि का) स्वाभाविक रूप से भक्तों में आविर्भाव होता है। सप्त महर्षि तथा चार मनु भी दृढ़ भक्तियुक्त रहने के कारण ज्ञानैश्वर्य्यादि भगवत्शक्ति से सम्पन्न थे, यही कहने का अभिप्राय है। श्रुति में 'सदेव सौम्य इदमग्र आसादेकमेवाद्वितीयम्' (छा० उ० ६।२।१) अर्थात् सृष्टि के पहले यह नामरूप क्रियात्मक एक अद्वितीय सत् रूप से विद्यमान था। प्रश्न होगा उस समय अद्वितीय सत्ता से पृथक् स्त्री शरीर न रहने के कारण सृष्टि कैसे हुई ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—सप्त महर्षि अर्थात् भृगु प्रभृति (भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु तथा वशिष्ठ) सात महर्षी। जो वेद तथा वेदार्थ के द्रष्टा थे एवं सर्वज्ञ थे एवं ज्ञान अर्थात् ब्रह्मविद्या सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे इस लिए उनको महर्षि कहा जाता है।] एवं सावर्ण (सवर्णी के पुत्र) नाम से प्रसिद्ध चार मनु मद्भावा मानसाः जाताः—मेरे मन से ही (मन के संकल्प से ही) उत्पन्न हुए थे, यौनि से उत्पन्न नहीं हुए अर्थात् वे मुझ हिरण्यगर्भात्मा से (संकल्प बल से) ही सृष्टिकाल में प्रादुर्भूत हुए थे इस सम्बन्ध में पुराण का वचन इस प्रकार है—'भृगुं मरीचिमत्रिञ्च पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्। वशिष्ठं च महातेजाः सोऽसृजन्मनसा सुतान्। सप्त ब्रह्माण इत्येते पुराणे

निश्चयं गताः' ॥ [उनका जन्म योनिज (स्त्री पुरुष के संसर्ग से उत्पन्न) नहीं होने के कारण विशुद्ध है । अतः समस्त प्राणियों में वे श्रेष्ठ हैं यही यहाँ कहने का अभिप्राय है । (मधुसूदन)]

येषाम्—जिन महर्षियों तथा मनुओं की ही रची हुई **इमाः प्रजाः**—ये चर तथा अचररूप सब प्रजाएँ **लोके**—लोक में प्रसिद्ध हैं । [मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार श्लोक के प्रथम पाद का ऐसा भी अन्वय किया जा सकता है—**महर्षयः सप्त**—भृगु प्रभृति सात महर्षी **पूर्वे**—उनसे भी पूर्ववर्ती **चत्वारः** (**महर्षयः**)—सनक आदि चार (सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार) महर्षि **मनवः तथा**—तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु (मद्भावाः मानसाः जाताः इत्यादि के अन्वय तथा व्याख्या पहले के अन्वय और व्याख्या के समान है ।) **येषां लोके इमाः प्रजाः**—जिन भृगु आदि सात और सनकादि चार महर्षी तथा चौदह मनुओं की इस लोक में जन्म और विद्याप्राप्त के द्वारा ये ब्राह्मणादि समस्त प्रजा सन्ततिभूत हैं ।] 'येषाम् लोके' इत्यादि पद का 'येषाम्' शब्द का 'येभ्यः' अर्थ करके भी अर्थात् जिनसे इहलोक में प्रजाएँ सृष्ट हुई हैं, ऐसी व्याख्या की जा सकती है ।

टिप्पणी । (१) **श्रीधर**—**महर्षयः सप्त**—भृगु आदि सात महर्षि ['सप्त ब्रह्मण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः' (महाभारत शान्तिपर्व २०८।५) इत्यादि वचनों के अनुसार सात ब्रह्मा पुराणों में प्रसिद्ध हैं] **पूर्वे चत्वारः**—उनसे भी पूर्ववर्ती चार सनकादि महर्षि **तथा मनवः**—तथा स्वायम्भुव आदि (चौदह) मनु **मद्भावाः**—मेरे भाव से युक्त अर्थात् मेरा भाव (प्रभाव) जिनमें विद्यमान है ऐसे ये सब **मानसाः जाताः**—मुझ हिरण्यगर्भस्वरूप परमेश्वर के मन से (संकल्पमात्र से) उत्पन्न अर्थात् आविर्भूत हुए हैं । [परमेश्वर का प्रभाव किस प्रकार से है यह बताते हैं-] **येषां लोके इमाः प्रजाः**—जिन भृगु आदि तथा सनकादि ऋषियों की और मनुओं की यथायोग्य पुत्र-पौत्रादि एवं शिष्य-प्रशिष्यादि के रूप में लोक में बढ़ी हुई ये ब्राह्मण आदि प्रजाएँ उत्पन्न हैं ।

(२) **शंकरानन्द**—'भवन्ति भावा भूतानाम्' 'सब प्राणियों के भाव (पूर्वोक्त बुद्धि आदि भाव) मुझ परमात्मा से ही होते हैं' इत्यर्थक वाक्य के द्वारा अपने का मुमुक्षुओं के उपास्य होने में कारणत्व, दुष्टनिग्रहक एवं शिष्ट पुरुषों के अनुग्रह में सामर्थ्य, बन्ध मोक्ष का हेतुत्व, सर्वतन्त्र स्वतन्त्रता, सर्वज्ञत्व एवं सर्वेश्वरत्व का सूचन कर अब सामान्य रूप से मन्दबुद्धि वालों की भजनीय अपनी विभूतिरूप वस्तु को दिखलाते हैं—

सर्व प्रथम सप्त–सात अर्थात् भृगु से लेकर वशिष्ठ तक सात महर्षयः–महर्षिगण तथा—तथा पूर्वे—उनसे भी प्राचीन स्वायम्भूव आदि चत्वारः—चार मनवः—मनु जगत् के उत्पादक परब्रह्म के संकल्परूप मानसाः जाताः—मन से उत्पन्न हुए हैं, इस लिए वे मद्भावाः—मद्भाव हैं (मुझ परमेश्वर की भावना (विभूतियाँ) हैं) लोके—तिन लोकों में येषाम्—भृगु आदि की एवं स्वायम्भुव आदि की जो दृश्यमान स्थावर जंगमात्मक प्रजाः—प्रजाएँ हैं इमाः—ये सभी मेरी विभूतियाँ ही हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि यह चराचरात्मक समस्त विश्व मुझ ब्रह्म की ही विभूति हैं।

(३) नारायणी टीका–पूर्ववर्ती श्लोक में भगवान् ने कहा है कि प्रत्येक प्राणी के भीतर बुद्धि आदि जितनी वृत्तियाँ हैं वे सब नाना प्रकार के भाव मुझसे ही (मेरी सन्निधि से माया से ही) उत्पन्न होते हैं। जो भगवद्भक्ति-हीन व्यक्ति उन सब भावों को अपने भाव मान कर अहंकार से कर्म करता है उसके लिये ये सब भाव बन्धन के कारण होते हैं किन्तु जो भक्त इनको मेरा ही रूप मान कर प्रति भाव में (वृत्ति में) मुझको प्रतिष्ठित कर मेरी उपासना करता है उसके लिए वे भाव युक्ति के साधन बन जाते हैं। अब भगवान् कह रहे हैं कि केवल भीतर की वृत्तियाँ ही नहीं बाहर के जितने स्थावर जंगमात्मक विश्व प्रपञ्च हैं वे भी मेरे ही भाव (विभूतियाँ) हैं। इन सभी की सृष्टि कैसे हुई? यह बतलाते हैं। भृगु आदि सप्त महर्षि एवं उनके पूर्ववर्ती सनकादि चार महर्षि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु (स्वर्ग, पृथिवी तथा पाताल इन तीनों लोक में जितने स्थावर जंगमात्मक पदार्थ दीखते हैं, वे जिनकी प्रजा है अर्थात् वे जिनसे उत्पन्न हुए हैं, वे महर्षि, मनु आदि मेरे मन से (मायारूप कल्पना शक्ति से) उत्पन्न हुए हैं। जब वे ही कल्पित हैं तो उनके सृष्ट हुए विश्व ब्रह्माण्ड भी कल्पित ही हैं अर्थात् मैं (परब्रह्म) ही एकमात्र सत्य वस्तु हूँ और सब माया से मुझमें अध्यस्त हैं। अतः सभी भाव मैं ही हूँ, इस प्रकार की भावना से मेरी उपासना करने पर जीव मुक्त हो जाता है।

[पूर्ववर्ती तीन श्लोकों में भगवान् किस कारण से लोकमहेश्वर है उसे उन्होंने अपने मुख से निर्णय किया हैं। भगवान् के यह लोकमहेश्वरत्व को अर्थात् सोपाधिक प्रभाव (ऐश्वर्य) को जानने से क्या फल होता है, यही अब कहा जा रहा है—]

एतां विभूतिं योगञ्च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

अन्वयः—यः मम एताम् विभूतिम् योगञ्च तत्त्वतः वेत्ति सः अविकम्पेन योगेन युज्यते, अत्र संशयः न अस्ति ।

अनुवाद—४-६ श्लोकों में उक्त मेरी विभूतियाँ एवं मेरे योग को (वैसी सृष्टि करने के सामर्थ्यरूप परमैश्वर्यको) जो यथार्थरूप से जानता है वह अविचलित (दृढ़) योग के द्वारा युक्त होता है अर्थात् सम्यक् दर्शन में (तत्त्वज्ञान में) स्थिरता प्राप्त कर सकता है, इस विषय में कोई संशय नहीं है।

भाष्यदीपिका—यः—जो व्यक्ति मम—मेरी अर्थात् परमेश्वर की एतां—यह अर्थात् ४-६ श्लोकों में जिसप्रकार मेरी (अर्थात् मुझ सर्वात्मक स्वरूप की) जिन विभूतियों का विस्तार से वर्णन किया गया है उन विभूतिं—विभूतियों को अर्थात् (विविधरूप से) भूति (बुद्धि ज्ञान प्रभृति एवं ऋषि तथा मनु के रूप में मेरी सर्वात्मभाव से अवस्थिति को) योगं च—एवं योग को ['योग' शब्द का अर्थ है युक्ति (कौशल अथवा सामर्थ्य) अर्थात् मायिक घटना की (अघटनघटनपटीयसी माया के द्वारा उस-उस रूप में संघटन रचना करने का (अथवा प्रतीति कराने का जो कौशल अथा सामर्थ्य है उसको) योग कहा जाता है अथवा योगैश्वर्य सामर्थ्य, सर्वज्ञत्व इत्यादि जो समाधि योग के फल के रूप से प्राप्त होते हैं वे योगज (योग से उत्पन्न) होने के कारण योग कहा जाता है। भगवान् की शक्ति तथा ज्ञान का लेश-मात्र प्राप्त होकर भृगु आदि महर्षिगण एवं मनु आदि प्रजापतिगण लोगों के ऊपर शासन करने में समर्थ हैं एवं सर्वज्ञ नाम से अभिहित हुए हैं। अतः भगवान् के अनन्त ऐश्वर्य तथा सर्वज्ञत्वादि रूप योग है, इस विषय में और संशय क्या है ? ऐसे योग को—तत्त्वतः—यथावत् अर्थात् गुरु तथा शास्त्र के उपदेश के द्वारा सर्वप्रकार संशयशून्य होकर मेरे स्वरूप को ठीक-ठीक रूप से वेत्ति—जानता है। [जानने से क्या होता है अर्थात् इस जानने का फल क्या होता है ? यह अब कहा जा रहा है—]

सः—वह। अविकम्पेन योगेन युज्यते—अविचलित योग से युक्त होते हैं (अर्थात् सम्यक् ज्ञान की स्थिरतारूप समाधि से युक्त हो जाता है)। अत्र संशयः न—इस विषय में कुछ भी संशय अर्थात् प्रतिबन्ध नहीं है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—भगवान् की जिन विभूतियाँ आदि के सम्बन्ध में कहा गया उनके यथार्थ ज्ञान का फल अब बताते हैं—एताम् मम विभूतिम्—इस भृगु आदि रूप मेरी विभूति को योगम् च—और

ऐश्वर्यरूप योग को यः तत्त्वतः वेत्ति—जो तत्त्व से (यथार्थरूप से) जानता है सः—वह अविकम्पेन योगेन—अविचल अर्थात् संशयरहित योग द्वारा (सम्यग् दर्शन अर्थात् पूर्ण ज्ञान द्वारा) युज्यते—युक्त हो जाता है न अत्र संशयः—इसमें संशय नहीं है।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार के योग से उत्पन्न हुए अपने ऐश्वर्य एवं विभूति का प्रतिपादन करके इन दोनों को जो सम्यक् प्रकार से जानता है उसके उक्त दर्शन का फल क्या होता है उसे कह रहे हैं—मम—मेरी अर्थात् निर्विशेष परब्रह्म को एतां—इसप्रकार से प्रतिपादित विभूतिं—विभूति को (मुझमें माया से जो अनेक प्रकार से दृश्यपदार्थ प्रतीत हो रहे हैं, उन विभूति को) अर्थात् मेरी सर्वात्मा को योगं च—एवं योग को (माया के योग से उत्पन्न हुए ऐश्वर्य को) अर्थात् सृष्टि, स्थिति, प्रलय, प्रवेश, नियमन, निग्रह एवं अनुग्रह आदि की सामर्थ्य को तत्त्वतः—तत्त्व के द्वारा—यथार्थ रूप से यः—जो विचक्षण पुरुष शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश से उत्पन्न हुए विवेकज्ञान के द्वारा वेत्ति—जानता है अर्थात् यह जगत् नहीं है, किन्तु परमात्मा का स्वरूप ही है, इसप्रकार सबके मेरे ही स्वरूप होने के कारण मुझको ही बन्ध, मोक्ष एवं सबके कारण के रूप से सम्यक्रूप से (ठीक-ठीक) जानता है, सः—वह मुमुक्षु अविकम्पेन—अविकम्प (अविचलित अर्थात् विकल्प से रहित) योगेन—योग के द्वारा (मेरी उपासना रूप योग के द्वारा) युज्यते—युक्त होता है। मोक्ष की इच्छा से सर्वत्र विरक्त होकर श्रद्धा एवं भक्ति से 'वासुदेव ही सब कुछ हैं' इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि के द्वारा मेरी उपासना करता है, न अत्र संशयः—इसमें संशय नहीं है। मुमुक्षु अन्य सब चिन्ता छोड़कर श्रवणादि में निष्ठा के द्वारा मेरी ही उपासना करता है, इसमें संशय करना नहीं चाहिए, यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में कहा गया है कि बुद्धि, ज्ञान, असंमोह इत्यादि समस्त भाव मुझसे (मेरी मायाशक्ति के प्रभाव से) उत्पन्न होते हैं अर्थात् अहंपदलक्ष्य शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा के अतिरिक्त इन सब भावों की कोई पृथक् सत्ता नहीं है। और भृगु आदि महर्षि तथा मनु आदि भी मेरा मनसे (संकल्प से अर्थात् मायाशक्ति से) उत्पन्न होने के कारण उनसे जो सब प्रजा सृष्ट हुई हैं अर्थात् विश्व प्रपञ्च का विस्तार हुआ है वे भी कल्पित (मायिक) ही हैं। अतः उन सबकी भी मुझसे अतिरिक्त कोई पृथक् सत्ता नहीं रह सकती। वे सब मेरी विभूतियाँ हैं क्योंकि मेरी मायाशक्ति मुझ नित्यशुद्ध अविकारी परमात्मा को बुद्धि आदि तथा महर्षिमनु

आदि को उत्पन्न कर उस-उसरूप में वि (विविध अर्थात् नाना प्रकार से) मेरी भूति अर्थात् वैभव अथवा मेरी अवस्थिति प्रतीत करा रही है। जो प्रयत्नशील मुमुक्षु गुरु तथा शास्त्र के उपदेश अनुसार साधनाभ्यास कर चित्तशुद्धि प्राप्त कर विवेक विचार द्वारा इन विभूतियों के स्वरूप को तत्त्व से (यथार्थ भाव से) जानता है अर्थात् वे सब वस्तुतः मैं ही हूँ (उनके नाम-रूप मायामात्र हैं) इसप्रकार मेरा सर्वात्मकत्व निश्चय कर लेता है एवं साथ-साथ मेरे योग को (उन सबकी अर्थात् विश्वप्रपञ्च की) सृष्टि, स्थिति तथा नाश करने की सामर्थ्य को) तत्त्वतः (ठीक-ठीक) जानता है (१) योग-शब्द का अर्थ है युक्ति (उपाय) या अघटनघटनसामर्थ्य अर्थात् निष्क्रिय, निरवद्य, निर्गुण, असंग, अद्वितीय होते हुए भी मैं जो सृष्टि, स्थिति, प्रलय कर्ता हूँ वह मेरी अघटनघटनपटीयसी अनिर्वचनीया मायाशक्ति अर्थात् स्वभावसिद्ध कल्पनाशक्ति के योग से ही सम्भव होता है। अतः मेरी माया ही योग है। इसलिये इसे योगमाया भी कहते हैं। (२) अथवा योगशब्द का अर्थ है योग से (समाधि योग से) जो ऐश्वर्य (सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व इत्यादि योगफल) प्राप्त होता है वह 'तत्त्वतः' शब्द का अर्थ है मायारूप उपाधि का कार्य तथा मायारूप उपाधि से रहित परमात्मा के स्वरूप यथार्थरूप से ज्ञात होना] उस तत्त्ववेत्ता की दृष्टि में जगत् का मिथ्यात्व एवं एकमात्र सर्व-भूतात्मा भगवान् का सत्यत्व निश्चित होने के कारण उसका चित्त भगवान् का ही निरन्तर चिन्तन करता हुआ अविकम्प (निर्विकल्प) समाधि योग प्राप्त होता है एवं उस योग से सर्व उपाधिरहित निराकार सत्य, ज्ञान तथा अनन्त-स्वरूप भगवान् में युक्त रहकर उनके साथ साक्षात् एकत्व अनुभव कर 'वह मैं ही हूँ' इसप्रकार निश्चयात्मिका बुद्धि होती है। अतः परब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व के सम्बन्ध में किसी प्रकार सेउस में संशय नहीं रहता है। यही 'युज्यते नात्र संशयः' पद का तात्पर्य है।

इस श्लोक में सोपाधिक (सगुण) भगवान् का प्रभाव वर्णन कर उस प्रभाव का यथार्थ ज्ञान से किस प्रकार से निरुपाधिक (निर्गुण) ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, यह स्पष्ट किया गया है।

[किस प्रकार की विभूति और योग के ज्ञान से अविकम्प (निश्चल— निर्विकल्प) योग की प्राप्ति होती है उसे अब चार श्लोकों से दिखाते हैं—]

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधाः भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

अनुवाद—मैं सम्पूर्ण जगत् का प्रभव (उत्पत्ति का कारण) हूँ और यह सारा जगत् मुझसे ही (मुझ अन्तर्यामी सर्वशक्तिमान् से) प्रेरित होकर ही प्रवृत्त होता है (चेष्टा करता है), ऐसा मान कर पण्डित जन भावसहित अर्थात् प्रेम से युक्त होकर मेरा भजन करते हैं ।

भाष्यदीपिका—अहम्—मैं वासुदेव नामक परब्रह्म सर्वस्य—समस्त जगत् की प्रभवः—उत्पत्ति का कारण हूँ [अर्थात् उपादान तथा निमित्त कारण हूँ (मधुसूदन)] मत्तः सर्वं प्रवर्तते—और मुझसे ही स्थिति, नाश, क्रिया और कर्मफलों के उपभोग रूप विक्रिया रूप (परिणामशील) सारा जगत् प्रवृत्त होता है [अर्थात् मुझ अन्तर्यामी सर्वज्ञ सर्वशक्तिरूप परब्रह्म से प्रेरित हुआ ही सारा जगत् अपनी मर्यादा का अतिक्रमण न करके प्रवृत्त होता है (चेष्टा करता है) (मधुसूदन)] इति मत्वा—ऐसा मान कर (इस बात को अच्छी प्रकार समझ कर) बुधाः—बुद्धिमान् तत्त्वज्ञानी भावसमन्विताः—भावना से (परमार्थ तत्त्व का धारणा से) समन्वित (युक्त होकर) [परमार्थ तत्त्व के ग्रहणरूप प्रेम से युक्त होकर (मधुसूदन)] मां भजन्ते—मेरा भजन करते हैं (मेरा चिन्तन किया करते हैं) ।

टिप्पणी । (१) श्रीधर—जिस प्रकार विभूति और योग के ज्ञान से सम्यग् ज्ञान (तत्त्व ज्ञान) की प्राप्ति होती है उसे अब चार श्लोकों से दिखाते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवः—से समस्त जगत् की भृगु आदिरूप विभूतियों के द्वारा प्रभव (उत्पत्ति) का कारण हूँ तथा मत्तः सर्वं प्रवर्तते—मुझसे ही इस समस्त जगत् का बुद्धि, ज्ञान, असंमोह इत्यादि सब कुछ प्रवृत्त हो रहा है। एवं मत्वा—इस प्रकार मान कर (जान कर) बुधाः—विवेकी पुरुषगण भावसमन्विताः—प्रीतियुक्त हो कर (अर्थात् प्रेमसहित मां भजन्ते—मुझे भजते हैं।

(२) शंकरानन्द—भगवान् के वस्तुतत्त्व का (भगवत् स्वरूप का) किस प्रकार से निश्चय किया जाता है उसको एवं भगवान की उपासना को विशेषरूप से स्पष्ट करते हैं। अहं—मैं अर्थात् निर्विशेष परमात्मा ही मायाशवलित होकर सर्वस्य—सम्पूर्ण प्रपंच के प्रभवः—जिससे उत्पन्न होता है वह प्रभव (उपादान) है। 'कार्यं कारणमात्रमेव' अर्थात् कार्य कारणमात्र ही है इस न्याय से सबकुछ मैं ही हूँ अर्थात् सब कुछ परमात्मस्वरूप ही है एवं मत्तः—मुझसे अर्थात् परमात्मा से ही 'बुद्धिर्ज्ञानम्'

इत्यादि में उक्त रीति से (क) मोक्ष का साधन एवं मोक्ष, (ख) बन्ध का साधन एवं संसार, ये सब (ग) सर्ग एवं अभ्युदय सर्वं प्रवर्तते—यह सब प्रवृत्त होते हैं तथा प्राणिसमूह की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति होती है। इसलिए सभी का कारण परमेश्वर ही है, इति—यह मत्वा जानकर (मानकर) अर्थात् श्रुति, युक्ति एवं गुरु के वचन के द्वारा निश्चय कर बुधाः—ज्ञानिगण अर्थात् परोक्षज्ञानी मुमुक्षुगण भावसमन्विताः—भाव से समन्वित ('सब ब्रह्म ही है') इस प्रकार के भाव के द्वारा समन्वित अर्थात् सर्वत्र मेरी भावना से युक्त होकर सर्वदा मां मुझको अर्थात् सर्वात्मक परमात्माको भजन्ते-भजन करते हैं अर्थात् श्रवण करते हैं, मनन करते हैं तथा ध्यान करते हैं—इस प्रकार उपासना करते हैं, यही अर्थ है।

(३) नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में भगवान् ने कहा है कि सोपाधिक भगवान् की विभूतियाँ एवं योग की सृष्टि आदि की सामर्थ्य के ज्ञान से अविकम्प (निश्चल अर्थात् सर्वसंकल्पवर्जित समाधिरूप योग प्राप्त होकर विद्वान् व्यक्ति भगवान् के साथ निःसंशय (पूर्णरूप से) युक्त होता है, अर्थात् सर्व उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य स्वरूप परब्रह्म के साथ एकत्व अनुभव कर (ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त होकर) मुक्त हो जाता हैं। अब उन विभूतियों को तथा योग को किस प्रकार जानना चाहिये यह स्पष्ट कर रहे है।

बुद्धि ज्ञान इत्यादि तथा भृगु आदि महर्षि प्रभृति मेरी विभूतियाँ हैं अर्थात् मेरी मायारूप कल्पनाशक्ति मुझे ही विविध प्रकार से उस रूप से प्रतीत करती है अतः मैं ही इन सब के प्रभव (उत्पत्ति का कारण) हूँ अर्थात् अभिन्न निमित्त उपादान कारण हूँ। ये सब रज्जु में सर्पदर्शन के समान कल्पित है। अतः मैं ही इन सबका प्रभव हूँ, इस वाक्य का तात्पर्य यह ही मैं (परब्रह्म) इन मायिक (कल्पित तथा मिथ्या) नामरूपात्मक प्रपंच का अधिष्ठान रूप से एकमात्र नित्यसत्य वस्तु हूँ, अर्थात् मैं सर्वात्मक हूँ (मैं ही सब कुछ हूँ)। मुझसे अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु की पारमार्थिक सत्ता नहीं हैं। यह है विभूति का तात्विक (यथार्थ) ज्ञान। फिर मैं जिस प्रकार सबके प्रभव (उत्पत्ति कारण) हूँ उसी प्रकार स्थिति तथा नाशादि कार्य भी मेरी प्रेरणा से ही होता हैं। जिस प्रकार अयस्कान्त मणि के सान्निध्य से लौहकणों की आकर्षण विकर्षणरूप सभी क्रिया स्वतः सम्पादित होती है उसी प्रकार मेरे सान्निध्य से मेरी माया-शक्ति सृष्टि स्थिति-नाश रूप क्रिया सम्पादन करती है, तथा सबको अपने-अपने कर्मों में प्रवर्तित (प्रेरित) करती हैं और वह प्रवर्तनरूप क्रिया मुझमें आरोपित होने पर मैं सबके

अन्तर्यामी रूप से प्रेरक हूँ, ऐसा विद्वान लोग कहते हैं। इसलिए पारमार्थिक दृष्टि से मैं अकर्त्ता निष्क्रिय होने पर भी (गीता ४।१३) मायारूप उपाधियुक्त होकर मैं सबका प्रेरक, सबका कर्मफलदाता तथा सर्वेश्वर हूँ यह जो जानता है वही मेरे योग का (अघटन को घटन करने की सामर्थ्य का) ज्ञाता होता है अर्थात् वह केवल यही नहीं जानता है कि जो कुछ भीतर और बाहर प्रतीत होता है वह मेरी विभूतियाँ है (अर्थात् मैं केवल सर्वात्मा ही नहीं हूँ परन्तु वह यह भी जानता है कि मुझसे प्रेरित होकर हो सबके मन की वृत्तियाँ एवं बाहर की सब मूर्तियाँ इस विश्वनाटक में अपना अपना निर्द्धारित अभिनय करने में प्रयुक्त हो रही हैं (गीता १८।६१) अर्थात् वह विवेकी पुरुष यह भी जान लेता है कि मैं सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर हूँ एवं सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् भी हूँ।

इस प्रकार मेरे सर्वात्मकत्व एवं सर्वेश्वरत्व का ज्ञान जिस को होता है वह 'बुध' होता है अर्थात् विवेक से परमार्थतत्त्व का ज्ञाता होता है [जगत् की असारता एवं परमात्मा के अखण्डत्व, अद्वितीयत्व, सर्वात्मता सत्यत्व एवं अनन्तत्व का ज्ञाता होता है। प्रेम या प्रीति आत्मा के लिए ही सम्भव है कारण कि आत्मा प्रियतम है (प्रेयः पुत्रात्, प्रेयो वित्तात्, प्रेय एतस्मात् सर्वस्मात्—(बृ० उ०)]। अतः अपने आत्मस्वरूप भगवान् की उक्त प्रकार से महिमा जब संशयरहित हो कर जान लेता है तब भाव से (अतिशय प्रेम से) समन्वित (युक्त) हो कर भगवान् में निष्ठालाभ करता है अर्थात् निरन्तर भगवान् में स्थित रह कर अविकल्प (निर्विकल्प) समाधिरूप योग से आत्म-साक्षात्कार कर के संसार से मुक्त होता है। निरन्तर भगवान् का स्मरण ही उनका यथार्थ भजन है और ब्रह्मात्मैक्य अनुभव ही उसका फल है। वही मोक्ष है। सगुण (सोपाधिक) ब्रह्म के ज्ञान से किस क्रम से निरुपाधिक आत्मस्वरूप ब्रह्म के साथ एकत्व अनुभव कर सकता है, यह इस श्लोक में निर्देश किया गया है।

[पूर्ववर्ती श्लोकोक्त प्रेमपूर्वक भगवान् का भजन ज्ञानिगण किस प्रकार से करते हैं वह अब कहते हैं]

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

अन्वयः—मच्चित्ताः मद्गतप्राणाः परस्परं मां बोधयन्तः कथयन्तश्च नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।

अनुवाद—पूर्वश्लोकोक्त बुधगण (तत्त्वज्ञानीगण) मुझमें ही चित्तको स्थित रखते हैं एवं उनके चक्षु आदि इन्द्रियरूप प्राण मुझमें लगे रहते हैं। वे आपस में एक दूसरे को मेरा तत्त्व समझाते रहते हैं एवं मेरी ही लीलाकथा वर्णन करते हुए सदा परितुष्टि लाभकरते हैं अतः मुझमें ही रमण करते हैं।

भाष्यदीपिका—मच्चित्ताः—मुझमें अर्थात् भगवान् में जिनका चित्त रहता है वे मच्चित्त हैं। ऐसे व्यक्तिगण मद्गतप्राणाः—जिनके प्राण अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियाँ मुझमें ही गत (लगे रहते) अर्थात् जिनलोगों की इन्द्रियादि की क्रिया केवल भगवद्भजन में ही व्यापृत रहती है एवं इन्द्रियाँ भगवान में ही उपसंहृत अर्थात् निविष्ट रहती है उनलोगों को 'मद्गतप्राणाः' कहा जाता है। अथवा जिनलोगों का प्राण अथवा जीवन का प्रयोजन एकमात्र भगवद्भजन के लिए ही है अर्थात् जिनके जीवन का भगवद्-भजन से अतिरिक्त कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है, ऐसा निश्चय कर जिन्होंने मेरे लिये ही अपना जीवन अर्पण कर दिया है वे 'मद्गतप्राणाः' हैं। ऐसे मेरे भक्त माम् परस्परम् बोधयन्तः—आपस में एक दूसरेको (मेरा तत्त्व) समझाते हैं। [आचार्य से ब्रह्मतत्त्व जिस प्रकार सुने हैं उसके सम्बन्ध में निश्चितबुद्धि होने के लिए विद्वद्गोष्ठी में (भक्त गोष्ठी में) आपस में एक दूसरे को अपना-अपना अनुभव व्यक्त कर समझाते हैं यह भी भगवद्-भजन का एक उपाय है (आनन्द गिरि)।] कथयन्तश्च नित्यं—एवं अपने शिष्यों के निकट ज्ञान बल वीर्य्यादि धर्म से युक्त मुझ परमेश्वरकी ही लीलाकथा कहते हैं एवं शास्त्र तथा युक्ति के द्वारा मेरे ही तत्त्व का उपदेश देते हैं यह भी भगवद्भजन ही है। इस प्रकार मुझमें ही चित्त स्थिर रखकर, मुझमें ही बहिरिन्द्रियों को तथा जीवन (प्राण) को अर्पण कर सहधर्मी भक्तों में आपस में मेरे स्वरूप (तत्त्व) के सम्बन्ध में सर्व-संशय की निवृत्ति के लिए एक दूसरेको अपने अपने अनुभव से बोधन कर एवं न्यून पुरुषोंको अर्थात् शिष्यों को मेरे ज्ञानबलवीर्य्यादिसम्पन्न लीला की कथा का वर्णन करते हुए मेरे तत्त्व के सम्बन्ध में उपदेश प्रदान कर जो लोग सतत मेरा ही (ईश्वर का ही) भजन करते हैं उनका चित्त सर्व-विषयों से उपरत होकर 'परमात्मा में' सर्वदा रत रहता है एवं इस कारण वे—'परमात्मा में' तुष्यन्ति—परितोष (पूर्ण संतोष प्राप्त करते हैं) अर्थात् जो कुछ जीवन का प्रयोजन है यह सब सिद्ध हो गये हैं—मैं कृतकृतार्थ हुआ हूँ—जगत में मुझे किसी अन्य प्राप्त वस्तु की अपेक्षा नहीं है—इस

प्रकार का अनुभव रूप सन्तोष प्राप्त होते हैं (गीता ५।२० द्रष्टव्य है) एवं रमन्ति च—उस सन्तोष से वे मुझमें रमते हैं अर्थात् प्रिय समागम होने पर जैसा उत्तम सुख प्राप्त होता है [अर्थात् कामुक स्त्री के प्रिय के साथ मिलन से इच्छापूर्त्ति होने पर जैसे सुखकी प्राप्ति होती है (आनन्दगिरि)] उसी प्रकार भगवान् के साथ सतत मिलन के फलस्वरूप उनकी सर्वकामना परितृप्त होने के कारण (अर्थात् विषयतृष्णा पूर्ण रूप से निवृत्त होने के कारण) वे भी वैसी रतिको प्राप्त होते हैं (बृ० उ० ४।३।२१)। गीता में पहले भी अनेक बार यह बात कही गई है। (गीता ५।२१, ६।२१–२३, ६।२७–२८)।] महर्षि पतञ्जलिने कहा है—'सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः' अर्थात् सन्तोष से सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है। पुराण में भी कहा है—'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥' अर्थात् लोक में जो कामजनित सुख है और जो दिव्य महान् सुख है वे तृष्णाक्षय से प्राप्त होनेवाले सुख के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं हैं। तृष्णाक्षय ही सन्तोष है।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—पूर्वश्लोकोक्त प्रीतिपूर्वक भजन का स्वरूप ही बताते हैं—मच्चित्ताः—मुझमें ही जिनका चित्त लग्न मद्गतप्राणाः—मुझमें ही जिनके प्राण-इन्द्रियाँ गत (प्राप्त अर्थात् समर्पित) हैं अथवा मुझे ही जिन्होंने अपना प्राण (जीवन) अर्पित कर दिया है बोधयन्तः परस्परम्—इस प्रकार के वे बुद्धिमान भक्त न्याययुक्ति के साथ तथा श्रुति आदि के प्रमाणों द्वारा आपस में एक दूसरे को मेरे स्वरूप के सम्बन्ध में समझाते हुए कथयन्तश्च माम्—तथा स्वयं समझकर मेरे तत्त्व का कथन (कीर्तन) करते हुए नित्यम् तुष्यन्ति—नित्य (सर्वदा) सन्तुष्ट रहते है अर्थात् अनुमोदन करके प्रसन्न होते हैं रमन्ति च—और मुझमें ही रमते हैं—अर्थात् आनन्दस्वरूप मुझमें रमण कर आनन्दको प्राप्त होते हैं।

(२) शंकरानंद—उनकी उपासना के प्रकार को ही कहते हैं—मच्चित्ताः—मच्चित्त (मुझमें अर्थात् सर्वात्मक सविशेष ब्रह्म में 'सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार की वासना से युक्त चित्त जिनका है वे मच्चित्त हैं) मद्गतप्राणाः—मद्गतप्राण (मेरे तत्त्व के प्रतिपादक वाक्यों के उच्चारण में, उनके अर्थ को श्रवण करने में एवं उनके निश्चित (सुविचारित) अर्थ के दर्शन में जिनका वाक् आदि इन्द्रियसमूह तत्पर है, वे 'मद्गतप्राण' है। मच्चित्त एवं मद्गतप्राण होकर बुध (परोक्षज्ञानी ब्रह्मोपासक) परस्परम्—परस्पर अपनी अपनी प्रज्ञा के अनुसार (वेदान्त) वाक्यसमूह के अर्थों का

बोधयंतः—बोधन करते हुए तथा परस्पर अपने अनुभव को कथयंतः च—व्यक्त करते हुए अपने अनुभव के अनुसार तुष्यन्ति—तुष्ट होते हैं अर्थात् आनन्द करते हैं च नित्यं—एवं सर्वदा वेदान्तों में रमंति—रमण करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि वे सभी में मुझको ही देखकर, सुनकर एवं भावनाकर काल का अतिक्रमण करते हैं।

नारायणी टीका—उत्तम अधिकारी अर्थात् विवेकी बुद्धिमान् पुरुष किस प्रकार से भगवान का भजन प्रेमपूर्वक करते हैं उसको पूर्वश्लोक में कह कर अब भगवद्भजन में अन्य प्रकार के साधन का वर्णन करते हैं। मेरा अनन्य भक्त मच्चित होकर अर्थात् मुझ सच्चिदानन्दघन में ही चित्त लगा कर (विषयों में नहीं) एवं मद्गतप्राण हो कर [प्राण शब्द से चक्षुरादि इन्द्रियों को सूचित किया गया। जिनके चक्षु मेरे ही रूप देखते हैं, कर्ण मेरी ही लीला कहानी श्रवण करते हैं, रसना मेरी कथा का अमृत रस पान करती है, त्वचा मेरे चरणकमल का स्पर्श लेकर धन्य होती है और नासिका मुझे अर्पित चन्दनादि का घ्राण लेती है अर्थात् सर्व प्राण (सभी इन्द्रियाँ) मुझमें ही लगे रहते हैं अथवा कर्ण आदि इन्द्रियों से शब्दादि जो जो विषय ग्रहण करते हैं उनमें मुझको ही अनुभव कर (मैं परमेश्वर ही उस उस भाव से विद्यमान हूँ इस प्रकार अनुभव कर) मुझमें लगे रहते हैं अथवा मुझसे अतिरिक्त अन्य दूसरी किसी वस्तु का जीवन में प्रयोजन न रहने के कारण उनका प्राण (जीवन) मुझे पूर्णरूप से समर्पित होते हैं, इस प्रकार से मद्गतप्राण होकर] जब कोई सभा में जिज्ञासु भक्त लोक मिल कर भगवत् तत्त्व का विचार करते हैं तब श्रुति, स्मृति युक्ति प्रमाणों से अपने अनुभव के वर्णन से आपस में एक दूसरे को बोधन करते हैं अर्थात् समझाते हैं। इससे भगवत् स्वरूप का ज्ञान निश्चित रूप से दृढ़ होता है। इस लिये यह भी भगवद्भजन का साधन है। उक्त प्रकार से जब श्रुति स्मृति युक्तियों के द्वारा ज्ञान निश्चित होता है एवं स्वयं अनुभव भी कर लेते हैं तब गुरु शिष्यों को मेरे यथार्थ स्वरूप का कथन (उपदेश) करते रहते हैं। यह भी एक प्रकार से भगवद्भजन ही है। इस प्रकार मुझमें चित्त को निविष्ट कर, मुझे ही इन्द्रियाँ तथा जीवन को समर्पण कर, मेरे ही तत्त्व का निर्णय करने के लिये सम पर्याय में परस्पर बोधन करते हुए (समझाते हुए) एवं न्यून अधिकारियों को (शिष्यों को) उपदेश करते हुए अर्थात् नित्य (सर्वदा-दिवारात्रि) मेरी भावना से ही काल का अतिक्रमण करते हुए उनका मेरे (शुद्ध चैतन्य स्वरूप परब्रह्म के) संस्पर्श (साक्षात् अनुभव) होने लगते हैं एवं उससे मन में सन्तोष (अत्यन्त

सुख) उत्पन्न होता है। इस येलि तुमको मैंने पहले ही कहा है—'युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः। सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते'॥ (६ । २८) इस प्रकार से सदा मन को वश में कर के आत्मा में नियुक्त करने वाला विगतपाप योगी सुखपूर्वक (अनायास) ही ब्रह्म के स्पर्श से (अर्थात् अविद्या की निवृत्ति करने वाले ब्रह्मसाक्षात्कार से) अत्यन्त (सर्वोत्तम) सुख को प्राप्त होता है। जिसमें अत्यन्त सुख मिलता है उसमें ही मन रमता है—यही मन का स्वाभाविक धर्म है। अतः सब से प्रियतम आत्मा के स्वरूपानन्द को प्राप्त कर योगी भक्त आत्मा में ही सदा रमण करता रहता है अर्थात् विषय सुख से निवृत्त हो कर ब्रह्मानन्द का भोग करता रहता है।

[पूर्व में (१० । ७-९ श्लोकों में) जैसा कहा गया है इस प्रकार से जो भक्त प्रेमपूर्वक भगवान का भजन करते हैं उस भक्त के प्रति भगवान् की कैसी कृपा होती है, यह अब कहा जा रहा है—]

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

अन्वयः—प्रीतिपूर्वकं भजतां सततयुक्तानां तेषां तं बुद्धियोगं ददामि येन ते माम् उपयान्ति।

अनुवाद—प्रीतिपूर्वक मेरा भजन कर जो समस्त साधक मेरे साथ सतत (निरन्तर) युक्त रहते हैं मैं उनको उस बुद्धि योग को प्रदान करता हूँ जिस के द्वारा वे मुझको प्राप्त हो सकें।

भाष्यदीपिका—सततयुक्तानाम्—(मुझ भगवान् के साथ) नित्य-युक्त अर्थात् बाह्य विषयों में (पुत्र, कलत्र, वित्त, मान, प्रतिष्ठा प्रभृति विषयों से अथवा जीविका के विषय से) सभी कामनाएँ निवृत्त होने के कारण मुझ में (भगवान् में) ही जिनका चित्त निरन्तर युक्त रहता है उन का [तब क्या वे लोग किसी वस्तु की इच्छा आदि कारणों से (परलोक में किसी पद की प्राप्ति के लिये अथवा दूसरे किसी सुख की आशा से) तुम्हारा भजन करते हैं ? उत्तर में कहा जा रहा है—नहीं।]

प्रीतिपूर्वकं भजताम्—प्रीति शब्द का अर्थ है स्नेह अथवा प्रेम। वे लोग मेरे निकट अन्य किसी वस्तु के लिए प्रार्थना नहीं कर स्नेहपूर्वक अर्थात् केवल प्रेमवश ही मेरा भजन अथवा सेवा करते हैं। [ऐसे भक्त को ज्ञानी भक्त कहा जाता है (गीता ७।१६-१९)। इस लिए वे नित्ययुक्त (सततयुक्त)

तथा "एकभक्ति" (गीता ७।१७) होते हैं क्योंकि वे जान गये हैं कि मैं उनकी आत्मा हूँ। आत्मा सभी की ही प्रियतम है, अतः मेरे प्रति उन लोगों की अत्यधिक प्रीति अथवा प्रेम होना स्वाभाविक है।] तेषाम्—उन लोगों को अर्थात् ऐसे ज्ञानी भक्तों को तं बुद्धियोगं ददामि--उस बुद्धियोग को देता हूँ। 'बुद्धि' शब्द का यहाँ अर्थ है भगवान् का तत्त्व अर्थात् स्वरूप के सम्बन्ध में सम्यग् दर्शन अर्थात् परमेश्वरविषयक यथार्थ ज्ञान (तत्त्व ज्ञान) एवं 'योग' शब्द का अर्थ है उस तत्त्वज्ञान के साथ सम्बन्ध (संयोग)। अतः 'तं बुद्धियोगं ददामि' पद का अर्थ है मैं उस तत्त्वज्ञान के साथ संयोग करा देता हूँ अर्थात् उस परमार्थविषयक यथार्थ ज्ञान को बुद्धि में उदित (प्रकाशित) कर देता हूँ। येन—जिस बुद्धियोग के द्वारा अर्थात् सम्यग् दर्शन (पूर्णज्ञान) रूप बुद्धियोग की प्राप्ति के फलरूप ते—वे लोग। [वे कौन हैं ? नवम श्लोक में उक्त 'मच्चित्ता मद्गतप्राणाः' इत्यादि धर्मविशिष्ट हो कर जो लोग मेरा भजन करते हैं वे।] माम् उपयान्ति—मुझको अर्थात् सभी के आत्मभूत परमेश्वर को [निर्विशेष निर्विकार अद्वितीय परब्रह्म को अपने आत्मभाव से] प्राप्त हो सकते हैं अर्थात् सर्वात्मा परमेश्वर मैं ही उनका आत्मा हूँ (यथार्थ 'मैं' हूँ), यह प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—पूर्वोक्त प्रकार से जो मेरा भजन करते हैं उन भक्तों को मैं सम्यग् (पूर्ण) ज्ञान प्रदान करता हूँ, यह कहते हैं—तेषाम् सततयुक्तानाम्—इस प्रकार जो निरन्तर मुझमें निविष्ट रहते हैं अर्थात् जिनका चित्त सर्वदा मुझमें आसक्त रहता है उन प्रीतिपूर्वकं भजताम्—प्रेमपूर्वक मुझे भजने वाले भक्तों को बुद्धियोगं ददामि--उस बुद्धिरूप योग (उपाय) देता हूँ [वह कौन-सा उपाय ?] येन माम् उपयान्ति--जिस उपाय से वे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं।

(२) शंकरानंद—कभी श्रवण कभी श्रावण (सुनाना) इत्यादि विभिन्न प्रकार से मुमुक्षुजनों का भजन होता है। इसे व्यक्त कर अब अपने अनुग्रह का प्रकार दो श्लोकों में कह रहे हैं—सततयुक्तानाम्—सततयुक्त (सतत अर्थात् सर्वदा वेदान्त के श्रवणादि में ही परिनिष्ठित) प्रीतिपूर्वकम्—प्रीतिपूर्वक (अपने स्वरूप के साक्षात्कार के सिद्धि के जो आसक्तिविशेष हैं, वही प्रीति है। उस प्रीति से युक्त होकर) वेदान्तवाक्यों का श्रवणादि से जो परोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है उसके अनुसार मेरे भजतां—भजनशील (ध्यानपरायण) इन मुमुक्षुओं को मैं (परमात्मा) उस बुद्धियोगं—बुद्धियोग अर्थात् स्वरूपज्ञानरूपी योग ददामि—प्रदान करता हूँ। अत्यन्त प्रीतिपूर्वक

की हुई उपासना से प्रसन्न होकर मैं ही नित्य निरन्तर श्रवणादि में निष्ठा-रखनेवाले उन मुमुक्षुओं को सम्यग्दर्शनरूप योग ['यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार का ज्ञान योग अर्थात् जो योग सबका चिदेकरस ब्रह्म मात्रत्व ग्रहण करता है एवं मेरी प्राप्ति के मार्ग में प्रतिबन्धक होता है उसको निवृत्त करता है इस प्रकार के ज्ञानयोग को] प्रदान करता हूँ। श्रवणादि के द्वारा मेरे भजन में निष्ठावान् तथा मेरे अनुग्रह के पात्रीभूत वे मेरे भक्त येन—जिस प्रकार के बुद्धियोग द्वारा माम्—मुझको अर्थात् निर्विशेष, आकाश के समान निराकार, नित्य, कूटस्थ, असंग, चिद्रूप, सदानंदैकरस अद्वितीय परब्रह्मको उपयांति—प्राप्त होते हैं अर्थात् 'यह मैं हूँ' इस प्रकार अनात्मा में आत्मभाव के परित्यागपूर्वक मुझको ही अपने आत्मरूप से जानते हैं, उस प्रकार से अपनी आत्मा की साक्षात्काररूप बुद्धि को देता हूँ। इसके द्वारा यही सूचित होता है कि जिस प्रकार (क) दिव्यमणि के लक्षण के परिज्ञाता मनुष्य से दिव्यमणि के लक्षण को सुनने वाले, (ख) उसके वचनों से लक्षण का ग्रहण करने वाले (ग) लक्ष्य में सूक्ष्म-बुद्धि तथा युक्ति के द्वारा लक्षण का अन्वेषण करनेवाले एवं (लक्ष्य एवं लक्षण दोनों की ही संगति का विचार करने वाले पुरुष जब उसी का बारंबार श्रवण तथा विचार करते हैं एवं सम्यक् रूप से देखते हैं तब ईश्वर के अनुग्रह से मणिका तत्त्व ज्ञात होता है, परन्तु बाहर से केवल 'मणि, मणि' इस प्रकार जो चिल्लाते हैं अतत्त्वज्ञ पुरुष से जो उसके सम्बन्ध में सुनते हैं, जो उसके विषय में विचार नहीं करते हैं इस प्रकार स्थूल बुद्धि सम्पन्न, युक्ति में अकुशल, असम्यक्-दृष्टिसम्पन्न तथा ईश्वर प्रसाद से रहित पुरुषों को दिव्यमणि का तत्त्व ज्ञात नहीं होता है, उसी प्रकार ही ब्रह्मतत्त्व भी अनधिकारी पुरुष को ज्ञात नहीं होता है।

(३) नारायणी टीका—पूर्वश्लोक में कहा गया है कि जिनका चित्त मुझमें ही निमग्न रहता है, जो मद्गत प्राण हैं अर्थात मेरा भजन ही जिनके प्राणका (जीवन का) एकमात्र उद्देश्य है, जो परस्पर मेरे सर्वदा गुण कीर्तन या स्वरूप का विचार करते हैं तथा परस्पर मेरे तत्त्वको समझाते हैं एवं इस प्रकार मुझ बिना एकक्षण भी वृथा व्यतीत नहीं करते हैं वे ऐसा करते हुए सदा ही मुझमें रमण करते हैं एवं सन्तोष अनुभव करते हैं। अब प्रश्न होगा केवल भगवान् का चिन्तन, लीला कीर्तन या परस्पर प्रबोधन से संतोष प्राप्त हो सकता है, किन्तु तत्त्वज्ञान के बिना तो परमानन्दस्वरूप विष्णु पद (मोक्ष) नहीं मिल सकता। इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि मेरे

जो भक्त उक्त रीति से सर्वदा मेरे साथ युक्त रहते हैं, एवं मुझे ही प्रियतम जानकर प्रीति (प्रेम) पूर्वक मेरा ही भजन करते हैं—मुझको छोड़कर एकक्षण के लिये भी दूसरे विषयों का चिन्तन नहीं करते हैं उन अविकम्पित (गीता १०।७) भक्तों को बुद्धि का (मेरी तत्त्वविषयक बुद्धि अर्थात् स्वरूप ज्ञान या परमार्थ दर्शन का) योग (उपाय) मैं स्वयं उनके हृदय में प्रकट (प्रकाशित) कर देता हूँ जिससे (अर्थात् जिस सम्यग्दर्शन के उपाय को प्राप्त कर) वे मुझको (अपना 'मैं' के स्वरूपको अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा को अभिन्न रूप से) प्राप्त कर सके अर्थात् नदियाँ जिस प्रकार समुद्र को प्राप्त कर समुद्र ही हो जाती हैं उसी प्रकार नित्ययुक्त होकर प्रीतिपूर्वक मेरे भजन से (मेरी कृपा से) मुझ सच्चिदानन्द को प्राप्त कर मेरी स्वरूपता प्राप्त हो सके।

[स्वाभाविक बुद्धि के द्वारा ही जब भगवान् का सत्यत्व तथा नित्यत्व निश्चय होने से भगवत् प्राप्ति होती है तब तुम भक्तों को किस लिए बुद्धियोग देते हो एवं उस बुद्धियोग के द्वारा उनलोगों का क्या विशेष प्रयोजन सिद्ध होता है ? यदि कहो कि बुद्धियोग भगवत् प्राप्ति के लिए जो प्रतिबन्धक है उसका नाशक है, तो पुनः प्रतिबन्धक उपस्थित होने से भगवत्प्राप्ति नष्ट हो जायगी, अतः उस बुद्धियोग से जो भगवत् प्राप्ति होगी वह अनित्य ही होगी। इसलिए प्रश्न कर रहा हूँ कि तुम्हारे किस प्रकार के भक्तों को एवं किसलिए ऐसा बुद्धियोग देते हो ? ऐसी शंका की निवृत्ति के लिए भगवान् कह रहे हैं—]

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

अन्वयः—अहं तेषाम् एव अनुकम्पार्थम् आत्मभावस्थः (सन्) भास्वता ज्ञानदीपेन अज्ञानजं तमः नाशयामि।

अनुवाद—मैं उनलोगों के प्रति अनुकम्पा (कृपा) करने के लिए उस आत्मभाव में स्थित होकर अर्थात् उनके अन्तःकरण की भगवदाकारा (आत्माकारा) वृत्ति में स्थित होकर ज्ञानरूप अत्युज्ज्वल दीप के द्वारा अज्ञानरूप अन्धकार का विनाश कर देता हूँ।

भाष्यदीपिका—अहं-मैं सर्वात्मा वासुदेव तेषाम् एव अनुकम्पार्थम्—उनलोगों का कैसे श्रेय (कल्याण) होगा अर्थात् परम कल्याणरूप मोक्ष की प्राप्ति होगी इस प्रकार की भावना से पूर्वश्लोकोक्त भक्तों के ऊपर दया (अनुग्रह)

करने के लिए आत्मभावस्थः(सन्)--'आत्मभाव' शब्द का अर्थ है आत्मा (अन्तःकरण का) भाव (आशय अर्थात् भगवन्निष्ठ अथवा ब्रह्मनिष्ठवृत्तिविशेष अर्थात् मुझको स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप अद्वितीय मुझको) विषयीभूत कर अन्तःकरण का जो ब्रह्माकार अथवा आत्माकार वृत्तिविशेष उत्पन्न होता है, उसको आत्मभाव कहा जाता है। अन्तःकरण की वृत्ति मात्र ही जड़ हैं। अतः उसका कोई स्वतन्त्र व्यापार सम्भव नहीं है। इसलिए वह अज्ञान नाश नहीं कर सकता। पुनः केवल (शुद्ध) चैतन्य अज्ञानादि का नाशक नहीं होता है क्योंकि वह सर्वव्यापी तथा सर्वसाधारण है अतः वह भी किसी का नाशक नहीं हो सकता है। अतः यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म अथवा आत्मा एवं बुद्धियोग (अन्तःकरण की आत्माकारा वृत्ति) में क्या ऐसा मध्यवर्ती व्यापार है जिसके द्वारा अज्ञान का नाश सम्भव होता है ? इसीलिए कह रहे हैं 'आत्मभावस्थः' अर्थात् परमात्मा को विषय करके जो आत्माकार अन्तःकरण का वृत्तिविशेष उत्पन्न होता है उसमें चिदाभास के द्वारा [चैतन्यस्वरूप मेरा आभास अर्थात् प्रतिबिम्ब अथवा अभिमान के द्वारा] स्थित होकर (चिदाभासको ही मध्यवर्ती कर)। भास्वता ज्ञानदीपेन—अत्युज्ज्वल ज्ञानदीप अर्थात् विवेक प्रत्यय रूप ज्ञान दीप के द्वारा। विवेक प्रत्यय शब्द का अर्थ है देह से अव्यक्त (प्रकृति) तक यावतीय अनात्मपदार्थ समूह से विलक्षण (पृथक्) नित्यसत्य आत्मवस्तु को जो बुद्धि वृत्ति विषय करती है अर्थात् जो बुद्धिवृत्ति अनात्म पदार्थ से आत्माको पृथक् कर उसको ही विषय करता है (चिन्तन करता है) उसको विवेक प्रत्यय कहा जाता है। यह विवेक प्रत्यय ही ज्ञानदीप है। चिदाभास से युक्त उस विवेकप्रत्यय का (ज्ञानदीप का) प्रवाह जब एकाग्रता तथा ध्यान के अभ्यास से निरन्तर (सर्वदा) अनवच्छिन्न रूप से चलता रहता है तब 'मैं ही वह ब्रह्म अथवा सर्वात्मा वासुदेव हूँ' इस प्रकार सम्यग् दर्शन का उदय होता है इस प्रकार सम्यग् दर्शन रूप दीप्ति के द्वारा वह ज्ञानदीप अति उज्ज्वल होता है। इस लिये कहा गया है 'भास्वता ज्ञानदीपेन' किन्तु इस सम्यग् दर्शनरूप दीप्ति अनायास ही प्रकाश नहीं पाती हैं। इसके लिये प्रारम्भिक अनेक साधनों की आवश्यकता होती है। अतः भाष्यकार कहते हैं—जो विवेक—प्रत्ययरूप ज्ञानदीप (क) भक्ति के प्रसाद (प्रसन्नता) रूप तेल के द्वारा अभिषिक्त हैं [अर्थात् निरन्तर भक्ति के द्वारा भगवान् का जो प्रसाद (अनुग्रह) प्राप्त होता है, अथवा भक्ति के द्वारा जो चित्त की प्रसन्नता उत्पन्न होती है, वही उस ज्ञानदीप का तेल है।] (ख) ईश्वर की भावनाभिनिवेशरूप

वायु की सहायता से वह ज्ञानदीप प्रज्ज्वलित होता है। वायुशून्य स्थान में दीप प्रज्वलित नहीं हो सकता है। भगवत् चिन्तन में अभिनिवेश (आग्रह अर्थात् एकाग्रता) इस ज्ञानदीप के लिये अनुकूल वायु हैं क्योंकि इसकी सहायता से यह शीघ्र ही प्रज्ज्वलित होता है। (ग) ब्रह्मचर्यादि साधनों के संस्कारों से युक्त प्रज्ञा (शुद्धबुद्धि) ही इस ज्ञानदीप की बत्ती है। बत्ती के बिना दीपक का प्रकाश नहीं हो सकता है। ब्रह्मचर्य (अर्थात् अष्टांग मैथुन से उपराम) एवं शम, दम इत्यादि के संस्कारों से जो प्रज्ञा (तीक्ष्ण निर्मल बुद्धि) उत्पन्न होती है वही उस ज्ञानदीप की बत्ती है। (घ) विषय से विरक्त अन्तःकरण ही उस ज्ञानदीप का आधार है। जिस प्रकार आधार के बिना दीप प्रज्वलित नहीं रह सकता, उसी प्रकार विरक्तचित्त न होने से (अर्थात् चित्त विषयासक्ति से पूर्णरूप से रहित न होने पर वह ज्ञानदीप प्रज्ज्वलित नहीं रह सकता, यही कहने का अभिप्राय है। (ङ) चित्त विषय से विरक्त होने पर भी उसमें राग तथा द्वेषरूप से मलिनता रह सकती है, इस लिये कह रहे हैं राग तथा द्वेष के द्वारा जो चित्त कलुषित नहीं है, वही इस ज्ञानदीप का अपवारक (ढ़कना) है। वायुरहित अपवारक (ढ़कने) में जिस प्रकार का दीप निश्चल भाव से प्रज्ज्वलित रहता है, उसी प्रकार विषया-सक्तिशून्य तथा रागद्वेष से रहित स्थिर चित्तरूप अपवारक में (ढ़कने में) यह ज्ञानदीप स्थित रह कर (किसी प्रकार कम्पित न हो कर) प्रज्ज्वलित रहता है। (च) एकाग्रता तथा ध्यान सर्वदा प्रवृत्त रहने पर (अविच्छिन्न रूप से चलते रहने पर) उसके द्वारा जो सम्यग् दर्शन रूप 'भा' अर्थात् (मैं ही वह ब्रह्म हूँ) इस प्रकार की यथार्थ ज्ञानरूप दीप्ति उत्पन्न होती है उस से वह ज्ञानदीप उद्भासित (प्रज्ज्वलित) होता है। इस प्रकार प्रज्ज्वलित हुए ज्ञानदीप द्वारा **अज्ञानजं तमः नाशयामि**—अज्ञान से जात अर्थात् अविवेक से (विचार के द्वारा अनात्म पदार्थों से आत्मा को पृथक् करने की सामर्थ्य के अभाव को अविवेक कहा जाता है उस से) अर्थात् अज्ञान जिसका उपादान है ऐसा तमः अर्थात् मिथ्या प्रत्यय लक्षण (मिथ्याज्ञानरूप) मोहान्धकार जो वस्तु का यथार्थस्वरूप आवृत कर उसके सम्बन्ध में मिथ्याज्ञान उत्पन्न करता है, उसे अज्ञानज (अज्ञान से उत्पन्न) तमः (मोहरूप अन्धकार) कहा जाता है। इस अन्धकार को मैं नाश कर देता हूँ (आत्मभावस्थ हो कर ज्ञानदीप प्रज्ज्वलित कर उस मोहान्धकार का मूल कारण जो अज्ञान है उसका भी नाश करता हूँ)।

९।१० वें श्लोक में जो अनन्य भक्त के सम्बन्ध में कहा गया है वह

भक्त इहजन्म तथा जन्मान्तरों के बहुसाधन तथा सुकृति के फलरूपसे जब शुद्धचित्त होकर निरन्तर एकाग्रता पूर्वक निदिध्यासन का अभ्यास करने में समर्थ होता है तब वह अन्य सभी प्रकार की वृत्तियों से शून्य होकर केवल आत्मतत्त्व में ही रमण करता रहता है अर्थात् उनके चित्त में केवल ब्रह्माकारा अथवा आत्माकारा वृत्ति का प्रवाह अविच्छिन्नरूप से चलता रहता है ऐसी अवस्था में शुद्ध चैतन्य का प्रतिबिम्ब उस वृत्तिविशेष में प्रतिफलित होता है यही भगवान का 'आत्मभावस्थः' होता है इसके साथ साथ ही विवेक प्रत्यय (अनात्मवस्तु से आत्मस्वरूप का पृथकत्व ज्ञान) अर्थात् ज्ञानदीप उत्पन्न होता है एवं यह ज्ञानदीप 'वह सर्वात्मा सर्वेश्वर ब्रह्म मैं ही हूँ' इस प्रकार का बोध अथवा साक्षात् अनुभूति की दीप्ति के द्वारा 'भास्वत' अर्थात् उज्ज्वल होता है। ऐसा अत्युज्ज्वल ज्ञानदीप के द्वारा ('ज्ञानदीपेन भास्वता') अज्ञान से उत्पन्न मोहान्धकार का नाश हो जाता है। अज्ञान तथा उसके कार्योंका नाश होने से एकमात्र नित्यसत्ता आत्मा ही (भगवान ही) अवशिष्ट रहकर यथार्थ स्वरूप से प्रकाशित होता रहता है अर्थात् साधक ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होता है। यही मुक्ति अथवा जीव की परम कल्याणावस्था है। (भगवान् की अथवा आत्मा की) अनुकम्पा होने पर ही अज्ञानान्धकार नाश होकर ऐसी परमानन्दावस्था प्राप्त होती है। आत्मा स्वयंप्रकाश है वह किसी से प्रकाश्य नहीं है। अतः वह स्वयं कृपा कर प्रकाशित न होने पर उनको प्रकट करने की शक्ति जीवकी नहीं है, इसीलिए भगवानने कहा 'तेषामेवानुकम्पार्थमहं नाशयामि तमः'।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—श्लोक के उपक्रम में कहा गया था कि केवल जड़ बुद्धि अज्ञानरूप आवरण नष्ट कर परमात्मा को प्रकाश नहीं कर सकता है। शुद्ध चैतन्त का प्रतिबिम्ब (अभिमान) जब बुद्धि में प्रतिफलित होता है तब उसको चिदाभास कहा जाता है। ऐसी चिदाभासयुक्त बुद्धि का वृत्तिविशेष ही (ब्रह्माकारावृत्ति ही) परमात्मा को प्रकाशित कर सकता है। यही 'आत्मभावस्थ' पदका अभिप्राय है [अर्थात् आत्मा के (अन्तःकरण) के भाव में (ब्रह्माकारा वृत्ति में) चिदाभास रूप से स्थित होकर] कारण नाश होने से कार्य का नाश होता है अतः ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश होने से अज्ञान का कार्य भी विनष्ट हो जाता है एवं तब केवल आत्मस्वरूप भगवान् ही (ब्रह्मरूप मोक्ष ही) प्रकाशित रहता है यह कहा गया है। प्रश्न है उसके बाद भी ज्ञान का कोई कार्य रहता है कि नहीं ? यदि रहता है तो मोक्ष कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर देने के लिए ही ज्ञान की दीप के साथ तुलना की गयी है।

दीपक के द्वारा अन्धकार की निवृत्ति के लिये जिस प्रकार (क) दीपक की उत्पत्ति के सिवा ज्वलन ही (प्रकाश ही) विद्यमान रहता है, दूसरा कोई कर्म अथवा अभ्यास (अर्थात् पुनः पुनः दीपक जलाने की कोई आवश्यकता) नहीं रहती है (ख) जिस गृह में दीपक प्रज्ज्वलित होता है उस गृह में विद्यमान वस्तुओं की ही अभिव्यक्ति (प्रकाश) होती है, वहाँ किसी अनुत्पन्न (नूतन वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है उसी प्रकार ज्ञान के प्रभाव से अज्ञान की निवृत्ति करने के लिये ज्ञानोत्पत्ति के सिवा किसी अन्य कर्म या अभ्यासकी अपेक्षा नहीं होता अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति के पश्चात् ज्ञान का प्रकाश ही विद्यमान रहता है इसके अतिरिक्त दूसरा कोई कर्म नहीं रहता है अथवा ज्ञानोत्पत्ति के अभ्यास की अर्थात् बारं बार ज्ञानोत्पादन करने की आवश्यकता नहीं रहती है। अज्ञानरूप आवरण नष्ट होने के कारण नित्य विद्यमान ब्रह्मभाव और मोक्ष की ही अभिव्यक्ति (प्रकाश) होती है, किसी अनुत्पन्न वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है जिससे अर्थात् तत्त्वज्ञान की नाश-

शीलता या कर्मादिकी सापेक्षता नहीं है, यह बात रूपकालंकार से सूचित की गई है। [अभिप्राय यह है कि सच्चिदानन्द आत्मा अथवा ब्रह्म नित्य विद्यमान है। उस ब्रह्मभाव प्राप्त करने को ही मोक्षप्राप्ति कही जाती है। अज्ञान ही उस ब्रह्म सत्ता को आवृत कर नामरूप तथा क्रियात्मक मिथ्या जगत को ब्रह्मरूप अधिष्ठान में विक्षेप कर दिखा रहा है। विद्यमान वस्तु के प्रकाश के लिए दीपक की आवश्यकता केवल अन्धकाररूप आवरण को नष्ट करने के लिये ही होती है। उसी प्रकार केवल अज्ञानरूप आवरण नष्ट करने के लिये ज्ञान की आवश्यकता होती है। अतः ज्ञान के द्वारा अज्ञानरूप आवरण नष्ट होने के कारण नित्य सत्य ब्रह्मभाव अथवा मोक्ष स्वतः प्रकाशित होता है, किसी के द्वारा अनुत्पन्न वस्तु की उत्पत्ति के समान मोक्ष उत्पन्न नहीं होता है अतः मोक्ष जागतिक विषय के समान अनित्य अथवा विनाशी नहीं है।] 'भास्वता' शब्द से यह सूचित किया गया है कि दीपक जिस प्रकार तीव्र पवनादि के अभाव से (प्रतिबन्ध के अभाव से) स्थिर रूप से जलता है उसी प्रकार ज्ञानरूप दीपक भी असम्भावना विपरीत भावनारूप प्रतिबन्ध का अभाव होने पर प्रज्ज्वलित होता है। [प्रबल वायु रहने से जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है, वह प्रज्ज्वलित नहीं रह सकता है उसी प्रकार असम्भावना विपरीत भावनादिरूप प्रतिबन्ध रहने पर भी ज्ञान प्रकाशित नहीं हो सकता है। अतः 'भास्वता ज्ञानदीपेन' पद के द्वारा उत्पन्न ज्ञान का कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता है, यही कहा गया है। अतः तत्त्वज्ञान एक बार उत्पन्न होने से उसका नाश

नहीं है—यह कह कर द्वितीय शंका का समाधान किया गया।] अपने विषय के आवरण का निवर्तक होना, अपने व्यवहार में किसी दूसरे सजातीय की अपेक्षा न रखना और अपनी उत्पत्ति के सिवा किसी अन्य सहकारी की आवश्यकता न रखना यह ज्ञान और दीपक में समान है, इस प्रकार रूपक का बीज समझना चाहिए।

(२) श्रीधर—बुद्धियोग देकर भी जब तक मेरा अनुभव भक्त को नहीं होता है तब तक बुद्धियोग का सम्पादन करके मैं अविद्याजनित संसार का नाश कर देता हूँ, यह कहते हैं—तेषाम् एव अनुकम्पार्थम्—पूर्वश्लोक में उक्त भक्तों पर अनुकम्पा (अनुग्रह) करने के लिये ही अज्ञानजं तमः नाशयामि—अज्ञान से उत्पन्न हुए संसार नामक अन्धकार का नाश कर देता हूँ। कौन स्थान पर स्थित होकर और किस साधन से (उपाय से) तुम अन्धकार का नाश करते हो ? इसके उत्तर में कहते हैं—आत्मभावस्थः (सन्) ज्ञानदीपेन भास्वता—आत्मा के भाव में अर्थात् बुद्धिवृत्ति में स्थित रह कर प्रकाशमान ज्ञानरूप दीपक द्वारा नाश करता हूँ।

(३) शंकरानन्द—शंका 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ('सत्य, ज्ञान तथा अनन्त स्वरूप ब्रह्म') इस श्रुतिवाक्य के अनुसार अनन्त, परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप तुम्हारी प्राप्ति उन्हें तो स्वतःसिद्ध ही है। ऐसी परिस्थिति में 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' यह कथन अयुक्त है ? (उत्तर) ऐसा कहना ठीक ही है, यद्यपि सर्वात्मक मैं (परब्रह्म) सबको प्राप्त ही हूँ, तथापि अज्ञान के कारण मुझको अर्थात् प्राप्त परब्रह्म को मूढजन अप्राप्त ही मानते हैं जिस प्रकार जन्मांध पुरुष प्रातःकाल में प्राप्त हुए सूर्य के किरण को (प्रकाश को) अप्राप्त ही मानते हैं उसी प्रकार सर्वव्यापी सर्वप्रकाशक मुझको भी अज्ञानी अप्राप्त मानते हैं इसलिये जो लोग मेरे भजनशील हैं उनके अज्ञान को जो मेरी प्राप्ति करने का उपायस्वरूप ज्ञान का आवरक है, उसे मैं नष्ट कर देता हूँ। यही अब कह रहे हैं—ज्ञान के साधन मच्चित्तत्व आदि एवं सततयुक्तत्व आदि के परिपाक के द्वारा जो संसार से मुक्त होने के लिए मेरा भजन करते हैं एवं केवल मेरे भजन में ही निष्ठावान हैं तेषाम्—उन ब्रह्मविदों के उपर अनुकम्पार्थम्—अनुकम्पा करने के लिये (ये निरन्तर समाधिनिष्ठा के लिये मेरे भजन करते हुए जो श्रम करते हैं उस श्रम की निवृत्ति कैसे होगी ? इस भावना से मेरी जो अनुकम्पा अर्थात् दया उत्पन्न होती है उसके निमित्त) एव अहम्—मैं परमात्मा ही आत्मभावस्थः—आत्मभावस्थ होकर [आत्मा का (प्रत्यक् आत्मभूत मेरा) भाव (भावना

अर्थात् ध्यानात्मिका वृत्ति) उसमें स्थित होकर] जिस प्रकार चक्षु का विषय सूर्य होता है, उसी प्रकार ही अपने ध्यान की वृत्तिका विषयीभूत होकर अथवा आत्मा (अर्थात् अन्तःकरण) उसका भाव (अर्थात् वृत्ति) उसमें प्रत्यक्-रूप से जो स्थित हैं वह आत्मभावस्थ है इस प्रकार आत्मभावस्थ होकर अर्थात् प्रत्यक्वृत्ति में आविर्भूत होकर ज्ञानदोपेन—ज्ञानदीप के द्वारा (जिसके द्वारा वस्तुतत्त्व ज्ञात होता है उसको अर्थात् आत्मस्वरूप का प्रकाश करनेवाली बुद्धि के वृत्ति विशेष को ज्ञान कहते हैं। उस ज्ञानरूप दीप से) भास्वता–नित्य निरन्तर समाधिनिष्ठा से उत्पन्न हुए अप्रतिबद्ध भाव से निरंकुश प्रकाशवान् ज्ञानदीप से अज्ञानजं–अज्ञानजात (अनादि अविद्यारूप अज्ञान से उत्पन्न हुआ) आवरणात्मक तमः–तमको नाशयामि–नष्ट करता हूँ। जिस प्रकार घर आदि के आच्छादक अन्धकारको उदयाचल के उपर आरूढ़ सूर्य अपने प्रभाव के द्वारा विनष्ट कर देता है, उसी प्रकार ही नित्य निरन्तर मेरे ध्यान करने वाले सज्जन पुरुषों के धीवृत्तिरूपी पृष्ठ में आरूढ़ होकर मैं अपने प्रकाश के द्वारा व्याप्त बुद्धि की वृत्तिविशेष से मेरे स्वरूप आच्छादनकारी अविद्यारूप अन्धकारको निःशेष नष्ट करके अविद्या एवं अविद्या के कार्य, उसके कर्म उसके लक्षण, उसकी अवस्था, उसके आभास के सम्बन्ध लेश से शून्य आकाशवत् नित्य निरन्तर, निर्विकल्प, निराकार, निर्विकार, निरंजन, निष्क्रिय, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाववान् आत्मा को (अनादि, अनन्त अखंडानन्दैकरस, परिपूर्ण अपने आत्मतत्त्वको) 'यह मैं हूँ' इस प्रकार मुझमें ही (परब्रह्म में ही) आत्मतत्त्व का प्रत्यय विस्पष्ट तर (विशेष रूप से स्पष्टतर) जिस प्रकार से हो, उसी प्रकार से ही प्रकाशित करता हूँ, यही कहने का अभिप्राय है। इसके द्वारा यह सूचित हुआ कि 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्' ('जिसको यह वरण कर लेता हैं') उसके द्वारा ही लभ्य है, उसी के लिए यह आत्मा अपने स्वरूपको प्रकट कर देता है)। इस श्रुति में उक्त रीति से तीव्र मोक्षेच्छा एवं वैराग्यपूर्वक जो यति निदिध्यासनरूप समाधि का अभ्यास करते करते परिश्रान्त हुआ है उसको ही ईश्वरप्रसाद प्राप्त होता है, उसको ही सम्यक् दर्शन होता है, उसके द्वारा ही अविद्या अन्धकार की निःशेष निवृत्ति होती है, उसी से विदेह कैवल्यरूप सुख की सिद्धि होती है।

[शंकरानन्द ने ७–१० श्लोकों की विकल्प व्याख्या इस प्रकार किया है।] 'मम यो वेत्ति तत्त्वतः' (मुझ परब्रह्म की विभूति को जो तत्त्वतः (यथार्थ रूप से) जानता है), इस वाक्य के अर्थ का सम्यक् प्रकार से

विचार करने पर 'एतां विभूतिम्' (श्लोक ७) से लेकर 'येन मामुपयान्ति ते' (१० श्लोक) तक के चार श्लोकों का अर्थ इस प्रकार है—

७ श्लोक—एतां विभूतिम्—जो विभूतियों के सम्बन्ध में पूर्व में कहा गया है उस विभूति का (महत्त्व का) विस्तारयोगम्—और योग (सृष्टि-स्थिति-लय-प्रवेश तथा नियमन आदि क्रिया की सम्पूर्ण सामर्थ्य) यः तत्त्वतः वेत्ति—मुझ निर्विशेष, अविक्रिय परब्रह्म की माया से ही है—वस्तुतः इनकी कोई सत्ता नहीं है, इस बात को तत्त्व से (यथाभूत अर्थ दर्शन से अर्थात् विवेकज्ञान से इनके यथार्थ स्वरूप का निर्णय कर) सद्गुरु के प्रसाद से जो ब्रह्मवित् यति आत्मविज्ञान से युक्त हो कर जानता है (यह सब मायिक मिथ्या ही है, ऐसा जानता है) सः अविकम्पेन योगेन युज्यते—वह ब्रह्मवित् अविकम्प (विक्षेप से रहित अर्थात् ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व-विज्ञान दृढ़ होने के कारण विकल्प से रहित) योग से (सम्यग् दर्शनरूप योग के द्वारा) युक्त है अर्थात् देह आदि से आत्मभाव का त्याग कर ब्रह्म ही 'मैं' हूँ, इस प्रकार ब्रह्म में ही आत्मबुद्धि से निश्चल होता है। अत्र न संशयः—फिर यह मैं हूँ और यह मेरा है, इस प्रकार का विकल्प नहीं करता है। इस विषय में संशय नहीं करना चाहिए।

८ श्लोक—'मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्' (मुझ से ही सब उत्पन्न हुआ है, मुझमें सब स्थित है इत्यादि श्रुति में जो ब्रह्म और आत्मा के एकत्व विज्ञान में निष्ठा रखने वालों का अनुभव प्रसिद्ध है, उसे कहते हैं—अहं सर्वस्य प्रभवः—मैं (परब्रह्म) ही समस्त जगत् का प्रभव (उपादान) हूँ अर्थात् मुझमें ही समस्त जगत् प्रतीत होता है। मत्तः सर्वं प्रवर्तते-मुझ से अर्थात् मेरी संनिधि से ही सब जगत् प्रवृत्त होता है। इति मत्वा—इस प्रकार जगत् की प्रतीति और प्रवृत्ति का कारण परब्रह्म ही है, ऐसा मान कर बुधाः भावसमन्विताः—बुध अर्थात् ब्रह्मवित् भाव से (ब्रह्म ही मेरी आत्मा है अर्थात् मैं ब्रह्म ही हूँ इस प्रकार के भाव से) समन्वित (युक्त) हो कर मां भजन्ते—मुझ परब्रह्म को भजते हैं अर्थात् ब्रह्म ही 'मैं' हूँ और 'मैं' ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अनुसन्धान करते हैं अर्थात् निरन्तर चिन्तन करते हैं।

९ श्लोक—उनके भजन का प्रकार कहते हैं—वे बुध (ब्रह्मवित्) बोधयन्तः परस्परम्—शिष्यों को शास्त्रार्थ का बोधन कराते हुए आपस में एक दूसरे को अपने-अपने अनुभव को कहते हुए मच्चित्ताः—मुझमें ही (प्रत्यगभिन्न परब्रह्म में ही) जिनका चित्त लगा हुआ है अर्थात् जिनका चित्त

मेरे आकार में परिणत हुआ है वे मच्चित हैं तथा मद्गतप्राणाः—जिनके प्राण (इन्द्रिय आदि) मद्गत [मेरे भाव को प्राप्त हुए हैं अर्थात् प्रत्यगवृत्ति से (ब्रह्माकारा वृत्ति से) मेरे स्वरूप में जिनके प्राण (इन्द्रिय आदि) प्रविलापित (समर्पित) हुए हैं वे ब्रह्मवित् वृत्ति में आरूढ़ मुझ आनन्दैकरस का अनुभव कर के तुष्यन्ति—तुष्ट होते हैं (सन्तोष को प्राप्त होते हैं) रमन्ति च—एवं मुझ में ही सर्वदा रमण करते हैं। इस प्रकार मेरा ही नित्य (सर्वदा) बोधन करते हुए, कथन करते हुए और ध्यान करते हुए काल बिताते हैं।]

१० श्लोक—इस प्रकार अपने भक्त ब्रह्मवित् यतियों के भगवद्भजन का प्रकार वर्णन कर अब अपने अनुग्रह का प्रकार कहते हैं—सततयुक्तानाम्-जो मुझमें ही (परब्रह्म में ही) सतत (सर्वदा) युक्त (समाहित चित्त) रहते हैं एवं भजताम्—एवं मुझे ही भजते हैं उन बुधों को (ब्रह्मविदों को) प्रीतिपूर्वकम्—'वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं' (गीता १२ । २०) इस वचन से इस लोक और परलोक के सुख और उनके साधन तथा अन्यान्य सब विषयों को त्याग कर के अपनी देह के जीवन आदि की रक्षा की आशा को भी छोड़ कर केवल मोक्ष की इच्छा से मुझ सच्चिदानन्दघन स्वरूप परम तत्त्व की प्रीति के लिये ही जो मेरा भजन निरन्तर करते हैं उन उत्तम भक्तों के प्रति जो प्रीति उत्पन्न होती है अर्थात् ये भक्त श्रेष्ठ मेरी प्राप्ति के लिये अत्यन्त श्रम कर रहे हैं; इस प्रकार की भावना से दयारस से आर्द्र हो कर अन्तःकरण में जो वृत्तिविशेष उत्पन्न होता है वह प्रीति है। उस प्रीतिपूर्वक बुद्धियोगम् ददामि—सम्पूर्ण विपरीत प्रत्ययों से रहित (विषयाकारा वृत्तियों से शून्य हो कर) केवल सन्मात्र को (सत्तामात्र को) विषय कर के जो सम्यग् दर्शन उत्पन्न होता है वह बुद्धि है। उस सम्यग् दर्शनरूप बुद्धि के साथ वह सत्तामात्र परब्रह्म 'मैं' ही हूँ इस प्रकार की वृत्ति के संयोग को बुद्धियोग कहते हैं। उस बुद्धियोग को देता हूँ अर्थात् मैं, यह, वह इत्यादि भेद ज्ञान से शून्य केवल ब्रह्म को ही विषय करने वाली अखण्डात्मिका वृत्ति को देता हूँ। येन—मेरे प्रसाद से (कृपा से) प्राप्त हुए बुद्धियोग से ते-वे बुध माम् उपयान्ति—मुझको (अद्वितीय, निर्विशेष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म को प्राप्त होते हैं। जिस से मुझ परब्रह्म को अपनी आत्मारूप से जान कर मेरे भाव (मेरे शुद्ध अद्वितीय स्वरूप को) प्राप्त कर सके उस बुद्धियोग को देता हूँ। इससे यह सूचित होता है कि जो अति सैकड़ों बार वेदान्तादि श्रवण किये हैं उनमें से केवल जो भगवान् में सततयुक्त (निरन्तर लगे हुए) होते हैं उनके ऊपर ही भगवान् प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न हो कर सम्यग् दर्शन रूप बुद्धियोग को

देते है—दूसरों को नहीं। इस लिये (परोक्ष भाव से) जो लोग आत्मतत्त्व को जान लिये हैं उन मुमुक्षु यतियों को निरन्तर ब्रह्मनिष्ठ (ब्रह्म में ही स्थित) होना चाहिए।

(४) **नारायणी टीका**—जो भक्त प्रीतिपूर्वक निरन्तर तुम्हारे चिन्तन में मग्न रहकर तुममें सर्वदा युक्त रहते हैं उनको सम्यग् दर्शन रूप बुद्धि से जिस प्रकार तुम्हारे साथ योग (ऐक्यबोध) हो सके उस उपाय को तुम देते हो यह तुमने कहा किन्तु इसमें शंका होती है (१) तुम तो सबके लिये सम हो तब केवल भक्तों को ही बुद्धियोग देते हो, दूसरे को नहीं, यह क्यों है ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं मुझमें सततयुक्त भक्तों के प्रति अनुकम्पा (कृपा) करने के लिये मैं उनको बुद्धियोग देता हूँ। (प्रश्न) क्या इसमें तुममें पक्षपातित्व दोष नहीं लगता है ? (उत्तर) नहीं, मैं सबकी आत्मा हूँ, अतः मेरी कृपा और आत्मा की (अपनी और आत्मा की) कृपा एकही बात है। मनुष्य जब अनित्य विषय में ही रमते हैं—सतत विषय में युक्त रहते है तब आत्माको भूल जाने के कारण वे आत्मा के शत्रु होकर (गीता ६।६) आत्मघाती होते है क्योंकि इस प्रकार आत्मविस्मृति का परिणाम है दुःखमय संसार में उत्तरोत्तर अधोगति की प्राप्ति (गीता १६।२०)। श्रुति में भी इस प्रकार अज्ञानान्धकार में गिरे हुए व्यक्तियों को 'आत्महा' (आत्मघाती) कहा गया है (ईश० ३०) और जब मायारचित मिथ्या विषयों से विरक्त होकर केवल सच्चिदानन्दघन मुझमें ही (अपने में ही) रमण करता है तब वह आत्मा से आत्माका उद्धार करता है अर्थात् आत्माको (अन्तःकरण को) विषय चिन्तन से विरत कर मुझ सर्वात्मा भगवान के चिन्तन में सदा निरत रखकर अज्ञानरूप तमः को (आवरण को) निवृत्त कर शुद्धचैतन्य स्वरूप आत्मा को प्रकट करता है यही आत्मा का उद्धार है। आत्मा स्वयंप्रकाश एवं पूर्णस्वरूप है—उनको प्रकट करने के लिये कोई क्रिया की आवश्यकता नहीं होती है। मुमुक्षु भक्त शास्त्र तथा गुरुवाक्यों से दृश्य प्रपञ्च का मिथ्यात्व तथा आत्मस्वरूप भगवान का सत्यत्व निश्चय करके जब उसकी प्रत्येक चित्तवृत्ति केवल भगवान की भावना से कम्पित (स्पन्दित) होती रहती है तब उसके अनु अर्थात् पश्चात् भगवान् अपने यथार्थ स्वरूपको भक्त के हृदय में प्रकट करते हैं, यही भगवान की अनुकम्पा (कृपा) है। श्रुति में भी कहा है 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्'। अर्थात् यह आत्मा सर्वत्र विद्यमान रहने पर भी कोई मनुष्य वेदादि शास्त्र की व्याख्या से अथवा मेधा से अर्थात्

बहुत कुछ श्रवण करने पर उस आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता किन्तु जो उसको अपने से अभिन्न आत्मरूप से वरण कर लेता है (अतः सती साध्वी स्त्री के समान उसका ही चिन्तन तथा सेवा करता रहता है अर्थात् आत्मा के साथ 'नित्ययुक्त' रहता है) उसके पास परब्रह्मस्वरूप आत्मा भी माया का आवरण हटाकर अपना यथार्थस्वरूप प्रकट करता है। सच्चिदानन्दघन आत्माको अभिन्नरूप से वरण करना तथा निरन्तर उसमें युक्त रहना ही यथार्थ भक्ति है एवं इस प्रकार भक्त के हृदय में प्रकट होना ही भगवान को अनुकम्पा या कृपा है। यह शाश्वत नियम है। अग्नि के पास जो जायगा उसको ही ताप मिलेगा, इसमें जैसा अग्नि में कोई पक्षपातित्व दोष आरोपित नहीं हो सकता, उसी प्रकार आत्मस्वरूप भगवान् की भक्तों के प्रति कृपा स्वभावसिद्ध है उसमें पक्षपातित्व का लेशमात्र भी नहीं है। आत्मा जबतक आत्मा के उद्धार के लिये कृपा नहीं करता है तबतक गुरुकृपा, शास्त्रकृपा, ईश्वरकृपा, महात्मा लोगों की कृपा या अन्य सभी कृपा मोक्ष के लिये व्यर्थ हो जाती है। इसलिये गीता में पहले ही भगवान् ने कहा 'उद्धरेदात्मानमात्मना' इत्यादि (गीता ६।५)।

(प्रश्न) तत्त्वज्ञान के बिना कोई संसार सागर से अपने को उद्धार नहीं कर सकता है। अतः तुम्हारी (अर्थात् आत्मा की) कृपा तो तब ही सार्थक (यथार्थफलदायक) होती है जब तत्त्वज्ञान का उदय होता है एवं अज्ञान के कार्यों का आत्यन्तिक नाश हो जाता है।

(उत्तर) यह बात ठीक है। मेरी कृपा की सार्थकता के लिये (अनुकम्पार्थम्) अर्थात् जिससे मेरा स्वरूप भक्तों के हृदय में प्रकट हो सके उसके लिये मैं ज्ञानदीप प्रज्ज्वलित कर अज्ञान से उत्पन्न हुए मोहरूप अन्धकार को [देहेन्द्रियादि में जो आत्माभिमान एवं तज्जनित रागद्वेष आदि) शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा के स्वरूप को आवृत करके रहते हैं उनको] नाश कर देता हूँ।

(प्रश्न) तब क्या तुम बाहर से (अर्थात् भक्त से पृथग्रूप से आविर्भूत होकर) ज्ञानदीप को प्रज्ज्वलित कर अज्ञानजनित अन्धकार का नाश करते हो ?

(उत्तर) मेरे भक्त निरन्तर मेरे चिन्तन में निमग्न रहने पर उनके अन्तःकरण में सर्व प्रकार की विषयाकारा वृत्ति लुप्त होकर ब्रह्माकारा वृत्तिका निरन्तर प्रवाह चलता है एवं अन्त में उसके चित्त के निर्वृत्तिक (वृत्तिशून्य)

होने पर निर्विकल्प समाधि से मेरे यथार्थ स्वरूपको (अपने आत्मा के स्वरूप को) साक्षात्कार (शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म ही सब है और वह ब्रह्म मैं ही हूँ इस प्रकार साक्षात् अनुभव) करते हैं। इस अनुभव को ही ज्ञानरूप प्रदीप कहा जाता है एवं वही सभी अज्ञानजनित अन्धकार का नाशक है। आत्मा चित् (ज्ञानस्वरूप होने के कारण आत्मा ही ज्ञानप्रदीप है। वह ज्ञानरूप प्रदीप यदि किसी क्रियाद्वारा उत्पन्न होता तो वह नाशवान् होता एवं इससे अज्ञान का आत्यन्तिक नाश कभी सम्भव नहीं होता। आत्मा के स्वरूपभूत यह ज्ञानदीप नित्य ही जीव के हृदय में सूर्य के समान भास्वर (देदीप्यमान अर्थात् प्रज्ज्वलित) है, वह अज्ञान से आवृत होने के कारण जीव मोह से आच्छन्न होकर संसार में भटकते रहते हैं और आत्मज्ञान द्वारा जब वह अज्ञान नष्ट हो जाता है तब बादल से मुक्त सूर्य के समान परमार्थ तत्त्व को प्रकाशित कर देता है (गीता ५।१५–१६)। जिस प्रकार प्रदीप वायु से शून्य स्थान में प्रज्ज्वलित रहता है उसी प्रकार आत्मस्वरूपभूत ज्ञानरूप प्रदीप रागद्वेषादि मल से रहित एवं विषयचिन्तनरूप चञ्चलता से शून्य तथा परमात्मा में सर्वदा अनुरक्त (एकाग्र) चित्त में प्रकट होता है। इस ज्ञानदीपकी नित्यता सूचित करने के लिये कहा है—'भास्वता' अर्थात् परमात्मविषयक ज्ञान सदा ही है केवल तत्त्वज्ञान से अज्ञानरूप आवरण नष्ट होने पर ही वह भास्वर (प्रकाशवान्) अर्थात् प्रकट होकर सब अज्ञान के कार्य (शोकमोहादि) को नष्ट कर देता है।

प्रश्न—तब तो तुम बाहर से भक्त हृदय में ज्ञान के प्रदीपको प्रज्ज्वलित कर देते हो?

उत्तर—नहीं, मैं (बाहर भीतर) सर्वत्र विद्यमान हूँ तथापि भक्त का हृदय जब आत्मभाव से भावित होता है अर्थात् समस्त विषयभाव से रहित होकर आत्माकी भावना में सतत युक्त रहता है अर्थात् 'मैं देहेन्द्रियादि से विलक्षण सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा हूँ' इस प्रकार अभिनिवेश करता है ('आत्मभावस्थ' होकर) उक्त ज्ञानदीपको प्रज्ज्वलित करता हूँ।

[इस प्रकार भगवान् की विभूति तथा योग को श्रवण कर अर्जुन अत्यन्त उत्कण्ठित हो कर कह रहे हैं—]

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

अन्वयः—अर्जुनः उवाच—भवान् परं ब्रह्म परं धाम पवित्रम् (च)। (वशिष्ठादयः) सर्वे ऋषयः तथा देवर्षिः नारदः असितः देवलः व्यासः त्वां शाश्वतम् पुरुषम्, अजम्, दिव्यम्, आदिदेवम्, विभुम् आहुः। स्वयं च एव मे (तथा) ब्रवीषि च।

अनुवाद—अर्जुन ने कहा—तुम ही (जीव की अन्तिम लक्ष्य वस्तु) परब्रह्म हो, तुम ही (चैतन्यस्वरूप) परम ज्योति हो एवं तुम ही परम पवित्र (संसाररूप पाप का नाश करने वाला) हो। वशिष्ठादि ऋषिगण, देवर्षि नारद, असित, देवल तथा व्यास भी कहते हैं कि तुम सनातन (नित्य) पुरुष हो, तुम दिव्य (परमाकाश में अर्थात् स्वस्वरूप चिदाकाश में स्थित) हो, तुम आदिदेव (देव अर्थात् सर्व प्रपञ्चातीत स्वयंप्रकाश तथा आदि अर्थात् सभी के मूल कारण हो) तुम अज (जन्मरहित) एवं विभु (सर्वव्यापी) हो, तुम स्वयं भी मुझको ऐसा ही कह रहे हो।

भाष्यदीपिका—अर्जुन उवाच-अर्जुन ने कहा भवान्-तुम परं ब्रह्म—परमात्मा हो। 'परम्' शब्द के द्वारा सर्व जीवों की अन्तिम लक्ष्य वस्तु जो ब्रह्म (परमात्मा) ही हैं वह निर्देश किया जा रहा है। परं धाम—परम तेजः (शुद्ध चैतन्य) स्वरूप हो। धाम शब्द का अर्थ आश्रय (स्थान) तथा तेजः (प्रकाश) दोनों ही हो सकता है। मधुसूदन सरस्वती ने दो प्रकार के अर्थ में धाम शब्द का ग्रहण किया है। मिथ्या जगत् की ओर से देखने पर भगवान् सर्वभूत के परम आश्रय हैं और स्वरूप की ओर से देखने पर वे परम तेजः अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप हैं। यहाँ भगवान् का स्वरूपवर्णन ही उद्देश्य होने के कारण भाष्यकार ने धाम शब्द को केवल 'तेजः' अर्थ में ग्रहण किया है। यह चैतन्य (तेजः) परम क्यों है ? क्योंकि वह जन्म तथा नाशरहित कूटस्थ तेजः (कूटस्थ चैतन्य) है। परमं पवित्रं च—तुम परम (प्रकृष्ट) पावन अर्थात् अत्यन्त शुद्धकारी (सर्वपापनाशक) भी हो। शुद्ध चैतन्य स्वरूप परमात्मा के साथ एकत्वानुभव होने से सभी पाप यहाँ तक कि संसार-रूप पाप भी नष्ट होते हैं, इस लिये वे परम पवित्र हैं। तुम कैसे जानते हो कि मैं ही ऐसा हूँ, दूसरा कोई ऐसा नहीं है ? इस के उत्तर में कह रहे हैं कि आप्तवाक्य (सर्वज्ञ ऋषियों के वाक्यों) से मैंने यह जान लिया क्योंकि—

सर्वं ऋषयः—भृगु वशिष्ठादि सभी ऋषिगण [तत्त्वज्ञाननिष्ठ व्यक्तिगण (मधुसूदन)]

सर्वऋषि पद के द्वारा नारद व्यास प्रभृति ऋषिगण गृहीत होने पर भी उनकी विशेषता पृथक् रूप से उल्लेख करने के लिये अर्जुन कह रहे हैं—

देवर्षिः नारदः असितः देवलः व्यासः—देवर्षि नारद, असित (देवल का पिता), देवल एवं व्यास अर्थात् कृष्ण द्वैपायन तथा त्वाम्—तुमको शाश्वतं पुरुषम्—नित्य (सनातन) पुरुष [सदा ही एक ही रूप में स्थित परमात्मा (मधुसूदन)] दिव्यम्—दिवि (परमे व्योम्नि) भवम् (स्वस्वरूपेण स्थितम्) अर्थात् परम चिदाकाश में अपने स्वरूप में स्थित अर्थात् सर्व प्रपञ्चातीत आदिदेवम्—सर्व देवों के आदि में (पहले) होने वाले [देव शब्द का अर्थ 'दीव्यति द्योतते इति देवः'] अर्थात् जो प्रकाश करता है उसको देव कहा जाता है एवं आदि शब्द का अर्थ सभी के मूल कारण। अतः 'सर्व देवों के आदि' कहने में परमात्मा सर्वप्रकाश तथा सभी के मूल कारण हैं यही समझाया जा रहा है। मधुसूदन सरस्वती, आनन्दगिरि प्रभृति का भी यही मत है। चूँकि तुम (परमात्मा) आदिदेव हो अतः तुमको अजम्—जन्मरहित तथा विभुम्—विभवनशील अर्थात् अनन्त महिमा-सम्पन्न एवं सर्वव्यापी (सर्वगत) आहुः—कहते हैं। इस प्रकार जब उन ऋषियों ने तुमको विशेषणयुक्त कर कहा है तब तुमको जो मैं 'परं ब्रह्म' इत्यादि कह कर सम्बोधन कर रहा हूँ, वह युक्तियुक्त ही है। फिर दूसरों ने कहा है उसे विचार करने की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि तुम—स्वयम् एव मे (तथा) ब्रवीषि च—स्वयं ही मुझको अपने स्वरूप के सम्बन्ध में ऐसा ही कह रहे हो।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—संक्षेप से श्री भगवान् ने अपनी विभूति को कहा है। अत्र विस्तारपूर्वक उन विभूतियों को जानने की इच्छा से 'परं ब्रह्म' इत्यादि सात श्लोकों द्वारा भगवान् की स्तुति करता हुआ अर्जुन कह रहा है—

परं ब्रह्म परं धाम इत्यादि—तुम ही परम ब्रह्म, परम धाम (आश्रय) और परम पवित्र हो। कैसे ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—क्योंकि तुम शाश्वतं पुरुषम्-सर्वदा एकरूप से रहने वाले नित्य पुरुष हो तथा दिव्यम्—प्रकाशमय अर्थात् स्वप्रकाश स्वरूप एवम् आदिदेवम्—देवों के आदि अर्थात् कारण हो। अतः तुम अजम्-जन्मरहित और विभुम्—व्यापक (सर्वव्यापी) भी हो, ऐसा आहुः—बताते हैं। कौन बताते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं—

सर्वे ऋषयः—भृगु आदि सब ऋषि लोग देवर्षिर्नारदः इत्यादि—देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास तथा स्वयं च एव ब्रवीषि मे—स्वयं तुम भी साक्षात् मुझ से ऐसा ही बता रहे हो।

(२) शंकरानन्द—(श्लोक १२-१३) इस प्रकार मन्दबुद्धि वाले मुमुक्षु भी जिससे भगवान् की उपासना कर सके उस के लिए सामान्यरूप से विभूतियोग का प्रतिपादन कर अपनी (भगवान् की) उपासना के द्वारा जो यति विशुद्ध अन्तः करण सम्पन्न होकर आत्मतत्त्व को जान लिये हैं उनकी निर्विशेष ब्रह्म की उपासना तथा उसका फल भगवानने सम्यक् रूप से प्रतिपादन किया। यह श्रवण कर निर्विशेष स्वरूप मूढ़ का उपास्य नहीं है, इस प्रकार निश्चय करके अतिमन्द बुद्धि वाला मुमुक्षु सर्वात्मक ईश्वर के सविशेष स्वरूप की भी उपासना नहीं कर सकता ऐसा मानकर उसके ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा से उसकी बुद्धि के अनुरूप सोपाधिक परमेश्वर के सविशेष स्वरूप को विस्तृतरूप से पूछने की इच्छा करके अर्जुन परमेश्वर की स्तुति कर रहा है परम्—पर अर्थात् सविशेष से विलक्षण—अप्राकृत, अतिसूक्ष्म, अतीन्द्रिय उदय-अस्त-शून्य, बुद्धि एवं क्षयरहित, अनादि-अनन्त, अप्रमेय धाम—धाम अर्थात् केवल कूटस्थ, असंग, चित् (प्रकाशस्वरूप) एक बार की स्मृति मात्र से शतकोटी कल्प में किये हुए पापराशि नाशकर्ता होने के कारण परमं पवित्रम्—परम (उत्कृष्टतम) अर्थात् वायु, सूर्य, अग्नि आदि के भी पवित्रकारी होने के कारण उनसे भी पवित्र अर्थात् पावन (पवित्र करने वाले) तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (सत्य, ज्ञान तथा अनन्त स्वरूप ब्रह्म) तथा 'पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मंगलम् (जो पवित्रों का भी पवित्र है एवं मंगलों का भी मंगल है) इत्यादि श्रुति एवं स्मृति में प्रसिद्ध निर्विशेष परंब्रह्म—परब्रह्म तुम स्वयं ही हो, दूसरा नहीं है ऐसा अर्थ है। यदि शंका हो मैं ही परब्रह्म हूँ इस प्रकार मेरे स्वरूप के सम्बन्ध में जो निर्धारण किया गया है, वह तुमने कैसे जाना ? आप्तवाक्य के द्वारा ऐसा जाना है, यह सूचित करने के लिए अर्जुन कह रहा है देवर्षिः नारदः तथा असितः देवलः व्यासः—देवर्षि नारद तथा असित, देवल व्यास आदि सर्वे—समस्त ऋषयः—ऋषिगण त्वाम्—तुमको शाश्वतम्—शाश्वत अर्थात् नित्य, दिव्यम्—दिव्य (दिव में अर्थात् स्वीय महिमा में स्थिर होने के योग्य दिव्य अथवा दिव् में अव्याकृत आकाश अर्थात् बुद्धिगुहा में जो वास करते है वह दिव्य है अथवा सत्ता को जो भजन करता है, अपने स्वरूप में जो सदा ही रहता है वह दिव्य है) आदिदेवम्—आदिदेव (सभी के कारण होने के कारण

आदि तथा द्योतनशील (प्रकाशशील) होने के कारण देव है। जो आदि तथा देव भी है, वह ही आदिदेव है अजम्—अज अर्थात् जन्मादि विकार-रहित विभुम्—व्यापक अर्थात् परिपूर्ण पुरुषम्—परिपूर्ण परमात्मा आहुः—कहते हैं। जब मैं भक्ति से तुम्हारे स्वरूप के सम्बन्ध में पूछता हूँ तब वे मुझको ऐसा ही कहते हैं, यही अर्थ है। इसके द्वारा यही सूचित होता है कि वस्तु का स्वरूप बहुव्यक्ति से श्रवण करना चाहिए एवं जानना चाहिए किञ्च, स्वयं चैव—तुम स्वयं भी 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्' ('यज्ञ एवं तप के भोक्ता को') तथा ('सर्वभूत में स्थित मुझको') इत्यर्थक वाक्यसमूह के द्वारा स्वयं मे—मुझे तुम (परमात्मा) ब्रवीषि—कहते हो, तुम ही परब्रह्म हो, ऐसा इन दोनो श्लाकों का अर्थ है।

(३) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती श्लोकों में भगवान् के मुख से सर्वोपाधिरहित निरुपाधिक रूप तथा सर्वात्मत्वादि विभूतियुक्त सोपाधिक रूप तथा उनकी उपासना का फल सुनकर अर्जुन के मनमें यह शंका उत्पन्न हो गई कि जो लोग मन्दबुद्धि हैं उनके लिये निर्विशेष निरुपाधिक स्वरूप की उपासना करना असम्भव है। अतः इस प्रकार प्राकृत बुद्धिसम्पन्न व्यक्तियों के प्रति अनुग्रह करने के लिये भगवान के जो सोपाधिक (सगुण) रूप को सर्वदा सभी लोग ग्रहण कर सकते हैं उन रूप के सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक सुनने के लिये भगवान की स्तुति कर रहा है समस्त जीव की अन्तिम लक्ष्य वस्तु जो परम आनन्द है जिसको वेदादि शास्त्र में अखण्डाद्वय निर्विकार परिपूर्ण परम ब्रह्म कहते हैं वह तुम ही हो। इसलिये तुम ही परम (अन्तिम) धाम (स्थान) हो जिसे प्राप्त करने के पश्चात् परम विश्रान्ति होती है समस्त संसारगति शान्त हो जाती है अथवा तुम परम धाम (ज्योतिः अर्थात् स्वयं प्रकाश) हो क्योंकि प्रगट होने पर अज्ञानरूप अन्धकार स्वतः ही चिरकाल के लिये विनष्ट हो जाता है और तुम ही परमपवित्र (अत्यन्त शुद्ध) हो क्योंकि एकमात्र तुम्हारी शरण लेने पर जीव सर्वपापों से (संसाररूप महा पाप से) मुक्त होता है (गीता १८।६६) शास्त्रविहित उपायों से तुम्हारी उपासना कर जिसने चित्तशुद्धि प्राप्त कर गुरु से वेदान्तवाक्य आदि श्रवण कर तुमको ही अपनी आत्मा के रूप से जानकर एकमात्र तुम्हारी ही शरण लिया है वह सर्व पापों से मुक्त होकर परम पवित्र—होता है तत् पश्चात् निदि-ध्यासन से अपने को शुद्ध स्वयंप्रकाश चित् स्वरूप जानकर वह परम धामको (अर्थात् परम ज्योतिः स्वरूपता) प्राप्त होता है। जो परम धाम—है वह परं ब्रह्म—है अर्थात् तुम्हारा अनन्य भक्त 'मैं सर्वभूतों की आत्मा हूँ' अर्थात्

मैं ही सब हूँ और सबही मैं हूँ' ऐसा साक्षात् जानकर परब्रह्मभाव प्राप्त होता है। इस प्रकार की स्थिति में वह जानता है मायारचित अनित्य देहादि तथा प्रपञ्च का अधिष्ठानस्वरूप आत्मा ही एकमात्र शाश्वत (नित्य अविकारी स्थिर) वस्तु है और वही सर्व पुर में (देह में हृदयगुहा में) शयन करता है (निर्विकार रूप से स्थित रहता है) अथवा वह पूर्ण है. इस लिये वही पुरुष है और वह पुरुष तुम ही हो ज्ञानी भक्त यह भी जानता है कि दिवि अर्थात् देहादि से ऊर्ध्व (विलक्षण) परम आकाश में (हृदयआकाश में) तुम (परमात्मा) प्रकाशित होते हो, इस लिये तुम दिव्य हो। आदि तथा अन्त में तुम ही (आत्मा ही) एकमात्र सत्य वस्तु हो एवं तुम्हारा आश्रय लेकर ही माया सृष्टि-स्थिति-प्रलयरूप कार्य कर रही है, अतः तुम (शुद्ध चैतन्य स्वरूप परमात्मा) ही सबका आदि अर्थात् मूल कारण हो एव विश्वका अनन्त परिणाम होते रहते भी तुम सदा ही अपने अविकारी प्रकाश स्वरूप में स्थित रहते हो, इसलिये तुम देव—(दिव्यते द्योतते इति देवः हो एवं इस प्रकार से ही तुम अज (जन्म तथा अन्य विकारों से रहित) हो। तुम पुरुष (पूर्ण) हो तुम आदिदेव हो अतः तुम विभुः—(सर्वव्यापी) भी हो। [भगवान् की ओर से प्रश्न होगा तुमने मेरे स्वरूप के सम्बन्ध में जो कुछ जाना वह ठीक है इस विषय में प्रमाण क्या है ? इसके उत्तर में अर्जुन कह रहा है—] देवर्षि नारद देवल, देवल के पिता असित कृष्णद्वैपायन व्यास आदि समस्त ऋषिगण तुम्हारे सम्बन्ध में अभीतक बारंबार ऐसा ही कहते हैं एवं तुम स्वयं भी मुझे ऐसा ही कह रहे हो अतः मैं जो कुछ कह रहा हूँ उसके बारे में मेरा कोई संशय का कारण नहीं है।

[भगवत्स्वरूप (निरुपाधिक स्वभाव) को जानना कितना कठिन है यह कहा जा रहा है—]

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

अन्वय—हे केशव। मां वदसि एतत् सर्वम् ऋतम् मन्ये, हे भगवन् ! हि ते व्यक्तिं देवाः न विदुः दानवाः न।

अनुवाद—हे केशव, तुम अपने स्वरूप के सम्बन्ध में जो कुछ मुझसे कह रहे हो वह आपकी और ऋषियों की कही हुई सभी बातों को मैं सत्य मानता हूँ क्योंकि हे भगवन् ! तुम्हारे प्रभाव को (अर्थात् निरुपाधिक स्वभाव को देवता भी नहीं समझते हैं, दानवगण भी नहीं समझते हैं [अतः

मनुष्य दैवीसम्पत्सम्पन्न ही हो और आसुरी सम्पत्सम्पन्न ही हो तुम्हारे निर्विशेष रूप को कोई भी समझ नही सकेगा इसमें और आश्चर्य की बात क्या है ?]

भाष्यदीपिका—हे केशव ! क + ईश + वा (प्राप्त होना) + क (कर्तृवाच्य में) प्रत्यय कर केशव शब्द निष्पन्न हुआ है । [क=ब्रह्मा, ईश=रुद्र । ब्रह्मा तथा रुद्र सर्वज्ञ तथा सर्वेश्वर होने पर भी जिसका अनुग्रह लाभ करने के लिये सचेष्ट रहते हैं वह केशव हैं । इस प्रकार की व्युत्पत्ति के अनुसार 'केशव' पद निरतिशय ऐश्वर्य के प्रतिपादक रूप से व्यवहृत हुआ है (मधुसूदन)] 'केशव' पद से सम्बोधन करने में अर्जुन का अभिप्राय यह है कि तुम निरतिशय सर्वज्ञ हो, अतः तुमही अपने स्वरूप को जान सकते हो, ऋषि मुनि तुम्हारी अपार कृपाप्राप्त भी जब तुम्हारे स्वरूपको नहीं जान सकते हैं तब दूसरे कोई यदि अपनी चेष्टा के बल से न जान सके तो आश्चर्यान्वित होने का कारण नहीं है। इसलिए—[मां यत् वदसि—मुझको जो कह रहे हो (एवं ऋषिगण जो कहे हैं) एतत् सर्वम् ऋतं मन्ये—यह सब सत्य मानता हूँ क्योंकि सर्वज्ञ तुममें (तथा ऋषियों में) किसी प्रकार के अप्रामाण्य की आशंका नहीं है ।] हे भगवन्–हे सर्वेश्वर्यादि सम्पन्न पुरुष ! हि चूँकि ते व्यक्तिम्—तुम्हारा प्रभव (निरुपाधिक स्वरूप) अथवा प्रभाव (महिमा) देवाः न विदुः—देवतागण अतिशय ज्ञानशाली होकर भी जान नहीं सकते हैं दानवाः न—(पुनः) दानवगण अत्यन्त दैहिक शक्तिशाली होकर भी जान नहीं सकते हैं—दैवीसम्पत्सम्पन्न देवतागण अथवा आसुरिक सम्पत्सम्पन्न दानवों में कोई भी निज चेष्टा के बल से जब तुम्हारा स्वरूप नहीं जान सकता है तब मनुष्य कैसे जानेगा ? अनेक जन्मों तक महत् तपस्या तथा सुकृति के फलरूप से याद कोई विशेष भाग्यवान् तुम्हारी कृपा का पात्र हो एवं तुम स्वयं अनुग्रह कर यदि उसको समझा दो तभी वह तुम्हारे स्वरूप को जान सकेगा, अन्यथा कोई उपाय नहीं है, यही कहने का अभिप्राय है ।

टिप्पणो (१) श्रीधर—जब तुम्हारे मुख से तथा ऋषियों के वाक्यों से तुम्हारे स्वरूप के सम्बध में सुना है तब मेरी तुम्हारे ऐश्वर्य के विषय में असम्भावना निवृत्त हो गयी है, यह अर्जुन अब कहता है–हे केशव ! सर्वम् एतत् ऋतम् मन्ये यत् माम् वदसि—'तुम हो परमब्रह्म हो' इत्यादि यह सब मैं सत्य मानता हूँ। जो तुमने मुझे कहा है कि 'मुझे देवगण नहीं जानते' इत्यादि वह भी सत्य ही मानता हूँ। फिर अर्जुन कहता है—

भगवन् ! न हि ते व्यक्तिम् देवाः न विदुः, न दानवाः—हे भगवन् ! तुम्हारी व्यक्ति (प्रकट होने के रहस्य) को देवगण नहीं जानते अर्थात् हम पर अनुग्रह करने के लिये ही भगवान् की यह अभिव्यक्ति (प्राकट्य) हुई है, यह वे नहीं समझते । दानव भी यह नहीं जानते हैं कि हमारा निग्रह करने के लिये ही भगवान् का यह प्राकट्य हुआ है ।

(२) शंकरानन्द—भले ही मैंने सैकड़ों बार कहा तथा ऋषियों ने भी हजारों बार कहा किन्तु तुम्हारा निश्चय कैसा हुआ है ? इसके उत्तर में अर्जुन कहते हैं, हे केशव । 'बहूनि मे व्यतीतानि' (मेरे अनेक जन्म व्यतीत हो गये हैं) 'मत्तः परतरं नाऽन्यत्' (मुझसे परे और कोई नहीं है) 'न मे विदुः सुरगणाः' (मुझको देवगण नहीं जानते हैं) तथा 'महर्षयः सप्त पूर्वे' (पूर्व के सात महर्षिगण) इत्यादि माम्—मुझको अर्थात् मेरे प्रति यत् वदसि—जो (तुम) कह रहे हो एतत् सर्वम् ऋतम्—यह सब ऋत अर्थात् सत्य हैं, ऐसा मन्ये—मानता हूँ । परम आप्त पुरुष होने के कारण, परमेश्वर होने के कारण तथा समस्त ज्ञान के कारण होने के निमित्त तुम्हारा वाक्य यथार्थ ही है, ऐसा मेरा निश्चय है । हि—जिस कारण से देवाः—देवतागण तथा दानवाः—दानवगण [वे सब अर्वाचीन हैं अर्थात् पीछे उत्पन्न हुए हैं । इस लिये इन्द्रादि देवता सर्वज्ञ होते हुए भी] ते व्यक्तिम्—तुम्हारी व्यक्ति को (प्राकट्य को) जिसके द्वारा समस्त जगत् प्रकट होता है उसको अर्थात् तुम्हारे अचिन्त्य, अनन्त वैभव तथा अप्रमेय प्रभावसम्पन्न, अनादि तथा अनन्त ईश्वर स्वरूप को न विदुः—नहीं जानते न दानवाः—एवं मधु आदि दानव भी नहीं जानते हैं । अतः उनसे अर्वाचीन अल्पज्ञ मनुष्य जानते नहीं, इसमें कहना ही क्या है ?

(३) नारायणी टीका—तुमने पहले ही स्पष्ट किया कि तुम सब के आदि कारण होने से तुमको देव, महर्षि या अन्य कोई यथार्थरूप से नहीं जान सकते हैं (गीता १० । २) । यह बात पूर्णरूप से सत्य है ऐसा मैं मानता हूँ । तुम सर्वव्यापी (अनन्त) होकर भी विनाशशील जगत्‌रूप से कैसा व्यक्त होते हो इस तत्त्व को जब तक नहीं जाना जाता है तब तक तुम्हारी व्यक्ति (नामरूपात्मक प्रपञ्च रूप से आविर्भाव अर्थात् सगुण तथा निर्गुण स्वरूप) अज्ञात ही रहता है । स्वरूप में अज हो कर माया से जन्म लेना, अपरिच्छिन्न अविकारी होते हुए भी परिच्छिन्न नामरूप से प्रकट होना, आनन्द स्वरूप होते हुए दुःख शोक से तप्त हुए जीवन में नाटक करना यही तो अव्यक्त अव्यय (अविनाशी) सच्चिदानन्दघन परब्रह्म की व्यक्ति (प्रकट

होने का रहस्य) है। इस व्यक्ति का तत्त्व जान लेने से भगवान् की माया का तत्त्व जान कर मायातीत निरुपाधिक शुद्ध चैतन्य स्वरूप को जाना जाता है—दूसरा कोई उपाय नहीं है। किन्तु (१) देव, दानव सभी माया के विकार होने से जब तक अपनी-अपनी पृथक् व्यक्ति में अभिमान रखते हैं (अर्थात् 'मैं देव हूँ—मैं ऋषि हूँ' इस प्रकार भावना रखते हैं) तब तक अविकारी अपरिच्छिन्न तुमको कैसे जानेगा ? देवगण अत्यन्त ज्ञानवान् होते हुए भी जब नहीं जान सकते हैं और दानवगण महातपस्वी होकर भी जब नहीं जानते हैं तब मनुष्यगण तुम्हारी व्यक्ति नहीं जान सकेगा, इस में आश्चर्य की बात क्या है ? (२) वे सब माया-रचित (कल्पित) असत् (मिथ्या) वस्तु हैं अतः वे सत्यस्वरूप तुमको कैसे जानेगा ? (३) नदियाँ जब तक पृथक् नाम रूप को आश्रय कर संकीर्ण गति का आश्रय लेकर प्रवाहित होती हैं तब तक समुद्र को नहीं जान सकती हैं किन्तु जब अपने व्यक्तित्व को छोड़ कर समुद्र में निमग्न होती हैं तब समुद्र की स्वरूपता को प्राप्त कर समुद्र का यथार्थ स्वरूप जान जाती हैं। देव, दानव मानव प्रभृति भी अपने व्यक्तित्व को छोड़ कर जब अनन्य भक्ति से भगवान् में डूब जाते हैं (अपनी कोई पृथक् सत्ता नहीं रहती है) तभी भगवान् का यथार्थ स्वरूप अर्थात् मायायुक्त होकर उनकी व्यक्ति एवं माया से मुक्त होकर (सर्व उपाधियों से रहित होकर) उनकी अव्यक्ति में (निर्गुण, निराकार निःसंग शुद्ध चैतन्य स्वरूप में) स्थिति—इन दोनों तत्त्व को जानते हैं—यही कहने का अभिप्राय है।

[चूँकि तुम देवता प्रभृति सभी के ही आदि कारण हो और तुम्हारे स्वरूप जानने में देवता तथा दानव कोई भी (अपनी चेष्टा से) समर्थ नहीं हैं, अतः—]

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

अन्वयः—त्वं स्वयमेव आत्मना आत्मानं वेत्थ। हे पुरुषोत्तम ! भूतभावन ! भूतेश ! देवदेव ! जगत्पते !

अनुवाद—हे भूतभावन ! भूतेश ! देवदेव ! जगत्पते ! पुरुषोत्तम तुम स्वयं ही अपने को अर्थात् निरुपाधिक (शुद्ध चैतन्य) स्वरूप तथा निरतिशय ज्ञानैश्वर्य बलादि शक्तियुक्त (सोपाधिक ईश्वर स्वरूप को) समझ सकते हो (दूसरा कोई समझ नहीं सकता है)।

भाष्यदीपिका—त्वं स्वयमेव—तुम स्वयं ही अर्थात् अन्य किसी के उपदेश आदि के बिना ही। आत्मना आत्मानं वेत्थ—अपने द्वारा अर्थात् तुम चित् (ज्ञान) स्वरूप हो अतः अपने स्वरूप के ज्ञान के द्वारा ही अपने को अर्थात् अपने निरुपाधिक (निर्गुण) स्वरूप तथा सोपाधिक (सगुण) स्वरूप को (निरतिशय ज्ञानैश्वर्य बलादि शक्तियों से युक्त सोपाधिक ईश्वर स्वरूप को) जानते हो। जो विषय जानने योग्य है उसको दो भागों में विभक्त किया जा सकता है यथा पराक् तथा प्रत्यक्। समस्त जड़ दृश्य वस्तुओं को पराक् कहा जाता है एवं प्रतीपम् अञ्चति अर्थात् जो देहेन्द्रियादि के विपरीत गमन करता है उसको प्रत्यक् कहा जाता है। यह शुद्ध आत्मा अविद्यादि उपाधिविहीन है, अतः इसको निरुपाधिक ब्रह्म अथवा परमात्मा कहा जाता है। वही जब मायारूप उपाधियुक्त होता है तब वह सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, अन्तर्यामी इत्यादि नामों से अभिहित होता है) भगवान् का निरुपाधिक (सर्वोपाधिशून्य शुद्ध चैतन्य) स्वरूप एवं सर्वशक्तिमान सोपाधिक रूप दोनों ही इन्द्रियातीत हैं अर्थात् प्रत्यक् होने के कारण दोनों को विषय के रूप से (इदम् अर्थात् 'यह' इस रूप से) जाना नहीं जाता है किन्तु आत्मस्वरूप भगवान् स्वयं ही अपने स्वरूप के ज्ञान के द्वारा अपने निरुपाधिक तथा सोपाधिक स्वरूप को जान सकते हैं (मैं ही वह हूँ इस प्रकार से जान सकते हैं)। देहेन्द्रियादि में अथवा देहेन्द्रियादिविशिष्ट संघात में अभिमानी किसी जीव के लिए उस स्वरूप को विषयरूप से (इदं रूप से) जानना सम्भव नहीं होता है। यही कहने का अभिप्राय है। प्रश्न होगा दूसरे के लिये जिसको जानना असम्भव है उसे मैं कैसे जानूँगा ? भगवान् श्रीकृष्ण के ऐसे प्रश्न की आशंका कर यह शंका निवारण करने के लिए अर्जुन प्रेमातिशय से भगवान् को अनेक प्रकार से सम्बोधन कर रहे हैं—

पुरुषोत्तम—पुरुष भी है तथा उत्तम भी है इस अर्थ में पुरुषोत्तम शब्द हुआ है। पुरि शयनात् इति पुरुषः अर्थात् सभी के हृदय रूप पुरी में तुम अवस्थान करते हो—इस लिये तुम पुरुष हो एवं क्षर तथा अक्षर से अतीत (गीता १५। १८) पूर्ण चैतन्यरूप होने के कारण तुम उत्तम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हो। अतः तुम सर्वोत्तम एवं सर्व प्रकाशक, सर्वान्तर्यामी तथा चैतन्य (ज्ञान) स्वरूप होने के कारण तुम्हारे लिए अज्ञेय (अविदित) कोई वस्तु नही रह सकती है, अर्थात् अपने स्वरूप एवं अन्य समस्त वस्तु सदा ही जो तुम्हे ज्ञात रहेगी इसमें आश्चर्य की बात क्या है ? भगवान् और कौन कारणों से सर्वश्रेष्ठ पुरुष (पुरुषोत्तम) है उसे पुनः चार सम्बोधनों के द्वारा अर्जुन स्पष्ट कर रहा है—

भूतभावन—समस्त भूतवर्गों के भावन अर्थात् उत्पत्ति अथवा वृद्धि तुम ही करते हो इस लिए तुम भूतभावन हो अर्थात् तुम में ही सर्व कर्त्तृत्व तथा सर्व प्रकृतित्व निहित है सर्वभूतों का तुम ही उपादान कारण (प्रकृति) हो और तुम ही निमित्त कारण (पुरुष) भी हो। केवल यही नहीं, तुम ही भूतेश—सभी भूतों के ईश्वर (सर्वेश्वर) हो अर्थात् सभी के नियन्ता अथवा अन्तर्यामी के रूप से सर्व कर्म के प्रेरक तथा कर्मफलदाता हो। प्रश्न होगा यदि मैं ऐसा ही होऊँ तब मनुष्य अन्य देवताओं को आराधना क्यों करते हैं ? इस के उत्तर में कह रहा है—देवदेव—जो देवताएँ सभी के आराध्य हैं उनके भी आराधनीय (पूज्य) तुम हो। अतः तुम देवताओं के भी देवता हो। तुमसे श्रेष्ठ कोई देवता नहीं हैं। आराध्य होने से भी पालकरूप से पिता होगा ऐसी बात नहीं है, इस लिए कहता है—जगत्पते—तुम निखिल जगत् के रूप से पालयिता हो [कौन हित है एवं कौन अहित है, यह जिसमें उपदिष्ट हुआ है उस वेद के प्रणेता तुम हो। इस कारण से वेदप्रचार के द्वारा तुम ही समस्त संसार के पालयिता (पालन करने वाले) हो। (मधुसूदन)]

[तुम जगत् के निमित्त तथा उपादान कारण हो अर्थात् सर्वरूप में अपने को ही सृष्टि कर सर्वभूत में विराजित हो, तुम ही पुनः सर्वभूत के कर्म के प्रेरयिता तथा कर्मफल के विधाता हो, तुम हो सर्वश्रेष्ठ इष्ट (आराध्य देवता) हो एवं तुम ही समस्त जगत् के पालयिता हो। तुम से श्रेष्ठ कोई नहीं हो सकता है क्योंकि तुम पुरुषोत्तम हो। अतः तुम ही कृपा कर अपने दोनों प्रकार के स्वरूप का परिचय अशेष भाव से (समग्र रूप से) मुझको कहो—यही यहाँ अर्जुन के कहने का अभिप्राय है।]

टिप्पणी। (१) श्रीधर—तो फिर क्या बात है ? इस के उत्तर में कहता है—स्वयमेवात्मनात्मानम् इत्यादि—तुम स्वयं ही अपने को जानते हो, अन्य कोई तुम को जान नहीं सकता। वह भी आत्मा से (अपने द्वारा) ही जानते हो, किसी अन्य साधन के द्वारा नहीं। अर्जुन अब अत्यन्त आदर के साथ बहु प्रकार से भगवान् को सम्बोधन कर रहा है—हे पुरुषोत्तम—पुरुषों में उत्तम (श्रेष्ठ) ! भगवान् क्यों पुरुषोत्तम हैं ? उसे स्पष्ट करने के लिये ये विशेष सम्बोधन किये जा रहे हैं—हे भूतभावन—प्राणियों को उत्पन्न करने वाले ! हे भूतेश—प्राणियों का नियन्त्रण करने वाले ईश्वर ! हे देव-देव—सूर्य आदि देवों के भी प्रकाशक ! हे जगत्पते—जगत् के (समस्त संसार के) पालक !

(२) शंकरानन्द—चूँकि तुम देव, ऋषि आदि के भी आदि हो,

उस कारण तुम ही अपने को जानते हो ऐसा अर्जुन कह रहा है—भूतभावन अपने आप ही जो भूतों की (आकाश से लेकर स्तम्ब तक समस्त भूतों की) भावना करते हैं अर्थात् उत्पत्ति करते हैं वे भूतभावन हैं। भूतेश—भूतेश अर्थात् उन भूतसमूह को जो चेष्टा करते हैं अर्थात् स्वयं अन्तर्यामी के रूप से जो प्रवृत्त करते हैं वे भूतेश हैं। प्रश्न होगा कि अग्नि आदि भी वागादि में स्थित होकर जगत को प्रवृत्त करते हैं ? इस पर कहते हैं—देवदेव—देवगण को (अग्नि आदि देवों को) भी जो चेष्टा कराते हैं वह देवदेव हैं क्योंकि 'य आदित्ये तिष्ठन्' ('जो आदित्य में स्थिर होकर') इत्यादि श्रुति है। अथवा, देवताओं का भी जो देव अर्थात् पूज्य है, वे देवदेव हैं। जगत्पते—स्वयं सृष्टि कर सम्पूर्ण जगत् का अन्न, जल आदि के रूप से तथा नियन्ता के रूप से जो पालन करते हैं वे जगत्पति हैं पुरुषोत्तम—पूर्ण होने के कारण पुरुष है, सम्पूर्ण पदार्थों की अपेक्षा महान् होने के कारण उत्तम है। पुरुष होकर जो उत्तम हैं वे पुरुषोत्तम है। हे पुरुषोत्तम ! आप आत्मना—अपने से आत्मानं—आत्मा को स्वयम् एव—स्वयं ही वेत्थ—तुम जानते हो। जिस प्रकार बल, पुष्टि, वेग, आरोग्य, अनारोग्य, अंग की विकलता एवं अविकलता तथा धैर्य आदिरूप अपनी विशेष विशेष अवस्था को पुरुष जानता है, उस प्रकार ही अपनी माया के योगविशेष के द्वारा विशेषित वैभव को त्वम् एव—तुम ही जानते हो अन्य परिच्छिन्न एवं अल्पज्ञ पुरुष नहीं जानता है यही भाव है।

(३) नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में अर्जुन ने कहा है कि अत्यन्त ज्ञानी देवगण एवं महातपस्वी दानवगण तुम्हारी व्यक्ति (निर्गुण निराकार अनन्त पर ब्रह्म की जगत् प्रपञ्च रूप में प्रगट होने का रहस्य) नहीं जानते हैं मनुष्य की बात तो दूर ही रहेगी। अब प्रश्न होगा—तब भगवान् का स्वरूप सबके लिये अज्ञेय (जानने के अयोग्य) है ? और यदि ऐसा ही हो तो भगवान की आराधना तो सर्व प्रकार से व्यर्थ है, यह मानना पड़ेगा। इसके उत्तर में अर्जुन कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। तुम्हारी आत्माको अर्थात् अव्यक्त मूर्ति के रहस्य (निराकार निरुपाधिक स्वरूप के तत्त्व) को तथा व्यक्ति का (साकार जगत् रूप से प्रतीत होने का) रहस्य अर्थात् सोपाधिक स्वरूप के रहस्य को एकमात्र तुम स्वयं ही आत्मा से अर्थात् स्वरूपसिद्ध ज्ञान से जानते हो। तुम स्वयं-प्रकाश हो अतः तुम्हारे सगुण या निर्गुण स्वरूप को प्रकाश करने के लिये दूसरी किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती है। मन, वाणी इत्यादि तथा उनके देवता भी तुमको (इदं रूप से) विषय नहीं कर सकते इसलिये श्रुति कहती है "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" अर्थात् वाणी मन के सहित

जिसके पास पहूँचने में असमर्थ होकर लौटकर आती है। अतः काई भी मन, बुद्धि आदि से तुमको जानने में समर्थ नहीं है किन्तु यदि कोई मन, बुद्धि आदि को निरोध कर (तुममें स्थिर कर) तुम्हारी सच्चिदानन्द स्वरूपता प्राप्त कर सके तो वह स्वयं तुम्हारे यथार्थ स्वरूपको एकात्मबोध से जान लेता है क्योंकि भगवान के शुद्धस्वरूप को केवल सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा के साथ एकत्व अनुभव कर ही जाना जाता है। यहां 'स्वयमेव आत्मानं वेत्थ' वाक्य का तात्पर्य है।

प्रश्न—मेरी क्या विशेषता है ? जिसके लिये मेरे अव्यक्त तथा व्यक्त स्वरूप के ज्ञान की आवश्यकता है ?

उत्तर—तुमको जान लेने से सभी जाना जाता है [इसलिये श्रुति कहती है "आत्मनि अरे विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातम् भवति" (बृ० उ०)] क्योंकि तुम 'पुरुषोत्तम' हो (गीता १५।१८) अर्थात् पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ हो।

प्रश्न—क्यों मैं पुरुषोत्तम हूँ ?

उत्तर—क्योंकि तुम भूतभावन (सभी भूत तुमसे ही उत्पन्न हुए हैं अर्थात् तुम सर्वभूतों का पिता हो। किन्तु पिता होने पर भी कभी कभी पुत्रों का नियन्ता (परिचालक) नहीं होता है किन्तु तुम भूतेश—हो अतः सभी भूतों के नियन्ता (अन्तर्यामी रूप से सर्व के प्रेरक) हो। नियन्ता होने पर भी वह सबके आराध्य (पूज्य) होगा ऐसी बात नहीं किन्तु तुम तो देवदेव सभी देवता के आराध्य (पूज्य) हो। फिर आराध्य होने पर भी पति (पालनकर्ता) होगा ऐसा कोई निश्चय नहीं है किन्तु तुम देवदेव अर्थात् सभी देवों का तुम ही प्रकाशक हो इसलिये श्रुति कहती है 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' तथा जगत्पति भी अर्थात् एक ओर से जिस प्रकार सबके आहार आदि की व्यवस्था कर जगत् का पालन करते हो दूसरी ओर से वेदादि शास्त्रों से सबके पारमार्थिक ज्ञानरूप आहार की भी व्यवस्था कर दिये हो। अतः भूतभावन होने से तुम 'सर्वस्वरूप' हो (अर्थात् कोई तुमसे अतिरिक्त नहीं है) 'भूतेश' होने से तुम सबके ईश (अन्तर्यामी) अर्थात् कार्य के प्रेरक तथा कर्मफल विधाता हो और 'देवदेव' होने पर तुम 'वरेण्यम् भर्गोदेवस्य' अर्थात् सबसे श्रेष्ठ स्वयंप्रकाश ज्योतिः है एवं देवता भी तुम्हारी सत्ता से सत्तावान् तथा तुम्हारे ही प्रकाश से प्रकाशयुक्त होकर ही कार्यरत हैं, और जगत्-पति होने से तुम सर्वशक्तिमान हो। इतने विशेषण तुम्हारा पूर्णत्व असीमत्व (अर्थात् तुम पुरुषोत्तम यह) ही प्रतिपादन करते हैं। अतः जो तुमको

इस प्रकार जानते हैं एवं निरन्तर उपासना से तुम्हारे साथ एक हो जाते हैं वे ही पूर्ण स्वरूप को जान सकते हैं दूसरा नहीं।

[भगवत्स्वरूप की प्राप्ति के बिना उनका यथार्थ स्वरूप जानना असम्भव है इसीलिए ताकि मन्दबुद्धि लोग उनकी विभूतियाँ ध्यान कर एकाग्र चित्त होकर उनका साक्षात्कार प्राप्त कर सकें, इसलिए अर्जुन भगवान् को अपने मुखसे अपनी विभूतियों का वर्णन करने के लिए अनुरोध करते हैं]

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

अन्वयः—त्वं याभिः विभूतिभिः इमान् लोकान् व्याप्य तिष्ठसि (ताः) दिव्याः आत्मविभूतयः अशेषेण वक्तुम् अर्हसि।

अनुवाद—तुम जिन विभूतियों के द्वारा इन लोकसमूह को व्याप्त करके स्थित हो उन सब दिव्य (अप्राकृत) विभूतियों का वर्णन तुम ही पूर्णरूप से करने में समर्थ हो।

भाष्यदीपिका—त्वं—तुम अर्थात् पूर्वश्लोकोक्त पुरुषोत्तम भूतभावना इत्यादि विशेषणों से युक्त परब्रह्म तुम। याभिः विभूतिभिः—जिन विभूतियोंके द्वारा अर्थात अपने माहात्म्य के विस्तार द्वारा इमान् लोकान् व्याप्य तिष्ठसि इन समस्त लोकों को व्याप्त करके स्थित हो रहे हो (ताः) दिव्याः आत्म-विभूतयः—वे दिव्य अर्थात् अप्राकृत (अलौकिक) अपने स्वरूपभूत विभूतियों को अशेषेण—निःशेष रूप से अर्थात् सम्पूर्ण रूप से वक्तुम् अर्हसि—वर्णन करने में समर्थ हो अतः मुझको कृपा कर कहो [तुम्हारी असाधारण विभूतियों के रहस्य को तुमसे भिन्न और कोई भी अपनी चेष्टा से नहीं जान सकता है। (अर्थात् तुम्हारी वे असाधारण विभूतियाँ दिव्य हैं अर्थात् असर्वज्ञ पुरुषों के लिये जानने में अशक्य (असाध्य) है। अतः सर्वज्ञ तुमको ही उनका पूर्णतया वर्णन करना चाहिए। (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—जिस लिये तुम्हारी अभिव्यक्ति को (प्रकट होने के रहस्य को) तुम ही जानते हो, देवादि नहीं जानते, इसलिये याः आत्मनः दिव्याः विभूतयः—तुम्हारी जो निज (स्वरूपभूत) दिव्य (अति अद्भुत) विभूतियाँ हैं, याभिः विभूतिभिः इमान् लोकान् व्याप्य तिष्ठसि—जो विभूतियों से इन समस्त लोकों को व्याप्त करके तुम स्थित हो ताः सर्वाः अशेषेण वक्तुम् अर्हसि—उन सबका वर्णन करने में तुम ही समर्थ हो। श्लोक में 'याभिः' पद विभूतियों का विशेषण है।

(२) शंकरानन्द—जिस कारण से केवल तुम ही तुम्हारी महिमा को जानते हो, इसलिए तुम्हारे तत्त्व का स्वयं तुम ही उपदेश दो इस प्रकार अर्जुन अब कहते हैं—दिव्याः—दिव्य अर्थात् तेज, बल, पौरुष शक्ति, प्रकाश आदि गुणसमूह से अप्राकृत (अलौकिक) आत्मविभूतयः-आत्मा की अर्थात् तुम्हारी (परमेश्वर को) जो विभूतयः-विभूतियाँ (महत्त्वविस्तार) हैं, उनको अशेषेण—निःशेष रूप से अर्थात् सम्पूर्ण रूप से [अपने महत्त्व के पार को जानने वाले] त्वं—तुम ही वक्तुम् अर्हसि—मुझसे कहने योग्य हो। याभिः विभूतिभिः—तुम्हारी जिन विभूतियों के द्वारा अर्थात् अनेक प्रकार के भावों के द्वारा इमान्—इन परिदृश्यमान् स्वर्ग, मर्त्य आदि लोकान्—लोकसमूह को व्याप्य—व्याप्त करके अर्थात् पूर्ण किये हुए तिष्ठसि तुम स्थित हो।

(३) नारायणी टीका—जिन दिव्य (अलौकिक) शक्ति से निरुपाधिक एक अद्वितीय आत्मस्वरूप भगवान की अनन्त नाम तथा रूपों से अभिव्यक्ति होकर जगत रूप में प्रकाशित होते हैं, वे उनकी विभूतियाँ हैं अर्थात् जो कुछ नाम रूप तथा क्रिया दिखाई देती हैं वे सब ही उन परमेश्वर की विभूतियाँ हैं (और यही उनकी व्यक्ति है) अर्थात् महिमा का विस्तार हैं। वे उनकी निजी अर्थात् स्वरूपभूत विभूतियाँ हैं क्योंकि विभूतियाँ माया से रचित (मिथ्या प्रतीतिमात्र) होने के कारण परमात्मरूप अधिष्ठान सत्ता से उन विभूतियों की कोई पृथक् सत्ता नहीं है अर्थात् वे विभूतियाँ भी परमात्मा के रूप ही है, इसलिये कहा गया है 'आत्मविभूतयः'। फिर वे विभूतियाँ दिव्य भी हैं कारण इनमें जो विचित्रता एवं अनन्त शक्ति का प्रकाश दिखा जाता है वह लौकिक बुद्धि को अगम्य है अर्थात् इसका रहस्य उद्‌घाटन करना कोई जीव के लिये सम्भव नहीं है। इन विभूतियों के द्वारा ही अर्थात् महिमा विस्तार के द्वारा ही समस्त लोक को परिव्याप्त कर (सर्वरूप से) भगवान् अवस्थान कर रहे हैं। अतः सर्वज्ञ भगवान् के बिना इन विभूतियों का रहस्य वर्णन करना दूसरे के लिये सम्भव नहीं है, इस कारण अर्जुन ने भगवान् को ही अपने मुख से उसे कहने का अनुरोध किया! अर्जुन के जानने की उत्कण्ठा अतिशय तीव्र है एवं भगवान् के समान वक्ता भी दुर्लभ है। अतः भगवान् की विभूति के सम्बन्ध में और किसी प्रकार की जिज्ञासा का अवशेष न रहे इसलिये निःशेष से अर्थात् सम्पूर्णरूप से उन विभूतियों का वर्णन करने के लिये अनुरोध किया।

[किसलिए मेरी विभूतियाँ अशेष रूप से सुनने की इच्छा कर

रहे हो ? ऐसे प्रश्न की आशंका कर अर्जुन कह रहे हैं कि ध्यान की सुविधा के लिए ही ऐसी विभूतियाँको जानने की आवश्यकता है—]

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया ॥ १७ ॥

अन्वय—हे योगिन् । कथम् सदा परिचिन्तयन् (अहं) त्वां विद्याम् ? हे भगवन् ! केषु केषु च भावेषु मया त्वम् चिन्त्यः असि ।

अनुवाद—हे योगिन् , सर्वदा किस प्रकार से चिन्तन करने पर मैं तुमको (तुम्हारे यथार्थ स्वरूप को) जान सकूँगा ? हे भगवन् किन-किन भावों में अर्थात् वस्तु (पदार्थ) में मुझे तुम्हारा चिन्तन (ध्यान) करना चाहिए (वह मुझको कहो) ।

भाष्यदीपिका—हे योगिन् हे भगवन्—(योगशब्द का अर्थ ऐश्वर्य है, वह जिनमें है वे योगी है । अतः 'हे योगिन्' शब्द का अर्थ है 'ऐश्वर्यशालिन्' । 'ऐश्वर्यशालिन् ' कहने में साधारण योगी को भी समझा जा सकता है । इसलिए बाद में 'हे भगवन्' कह कर सम्बोधन किया अर्थात् तुम केवल ऐश्वर्यशाली नहीं हो तुममें निरतिशय ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य तथा मोक्ष प्रभृति समग्ररूप में (पूर्णरूप से) विद्यमान हैं । अतः तुम निरतिशय ऐश्वर्यादि शक्ति से सम्पन्न हो यही कहने का अभिप्राय है । विष्णु पुराण में 'भगवान्' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतींगना' । कथं सदा परिचिन्तयन्—मैं अति स्थूलबुद्धि हूँ । देव आदि भी तुमको जानने में समर्थ नहीं हैं । अतः तुमको किस प्रकार से सतत अनुसन्धान कर (चिन्तन कर) शुद्धिबुद्धि होकर अहम् त्वाम् विद्याम्—निरुपाधिक तुमको (तुम्हारे निरुपाधिक स्वरूपको) मैं जान सकूँगा ? इसके उत्तर में भगवान् कह सकते हैं कि मेरी विभूतियों को चिन्तन करने से ही जान सकोगे । इसीलिए अर्जुन कह रहे हैं कि तुम योगी हो, और तुम भगवान् भी हो, अतः तुम्हारी विभूतियाँ भी चेतन अचेतन एवं बहुविध उपाधियों से युक्त होने के कारण असंख्य हैं अतः केषु-केषु च भावेषु मया त्वं चिन्त्यः असि—किन किन भावों में अर्थात् वस्तुओं में मुझे तुम्हारा चिन्तन अर्थात् ध्यान करना चाहिए ? जिस प्रकार से ध्यान कर तुम्हारे निरुपाधिक स्वरूपको मैं जान सकूँ, वह मुझे कहो ।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—हे योगिन्! कथं विद्याम् इत्यादि—कैसे अर्थात् किन-किन विभूतियों के भेदों से तुम्हारा सदा चिन्तन करता हुआ मैं तुमको (तुम्हारे यथार्थस्वरूप को) जानूँ। हे भगवन्। विभूतियों के भेदों से तुम चिन्तनीय होने पर भी किन-किन भावों में (पदार्थों में) मुझे तुम्हारा चिन्तन करना उचित है वह कहो।

(२) शंकरानन्द—किञ्च 'कथम्' इत्यादि। योगिन्–माया के योग के द्वारा उत्पन्न हुए ऐश्वर्य को योग कहा जाता है—ऐसा योग जिनमें वर्त्तमान है वे योगी हैं–हे योगिन्! सविशेषं त्वां–आपको सदा परिचिन्तयन् सर्वदा परिचिन्तन करते-करते अर्थात् सर्वत्र ध्यान, स्तुति, एवं नमस्कार करता हुआ अहं—मैं शुद्धात्मा होकर मन एवं वाणी का अगोचर निर्विशेष परब्रह्म स्वरूप तुमको कथं विद्याम्—कैसे जानूँ? अतः जैसा जान सकता हूँ वैसे महत्त्वविशिष्ट अपने विभूति विशेष को मुझसे कहिए, ऐसा पूर्वश्लोक के साथ सम्बन्ध है।

अथवा तुमको कैसे जान सकता हूँ? यही प्रश्न है। हे भगवन, जड़ एवं अजड़ के भेद का कारण अथवा देव, दानव, मनुष्य आदि के भेद के कारण अनेक प्रकार के विद्यमान भावेषु–भावों में केषु-केषु—किन किन पदार्थों में तुम्हारा मया—मुझ मुमुक्षु के द्वारा चिन्त्य असि—चिन्तनीय हो अर्थात् किन-किन पदार्थों से मुझे तुम्हारा चिन्तन करना चाहिए। 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' ('सम्पूर्ण जगत् विष्णुमय है') इस न्याय के द्वारा तुम्हारे स्वरूपभूत जगत् में कहाँ कहाँ तुम्हारी विशेष स्फूर्ति है एवं कहाँ कहाँ तुम्हारा ध्यान विशेषरूप से मुझे करना चाहिए (यह कहो) यही अर्थ है।

(३) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती श्लोक में अर्जुन ने भगवान् की समस्त विभूतियों का वर्णन करने के लिये प्रार्थना किया। जिससे भगवान् का ध्यान सुकर (सहजसाध्य) हो सके इसलिये ही अर्जुन को विभूतियों को जानने की इच्छा हुई। अब अर्जुन अपने मन का भाव स्पष्ट करता हुआ कहता है—तुम तो भगवान् हो, तुमको किस प्रकार सदा चिन्तन करता हुआ तुमको जान सकूँ अर्थात् तुम्हारा यथार्थ शुद्धस्वरूप जान सकूँ यह मुझे बताओ। यदि कहो कि मेरी विभूतियों का चिन्तन करने से ही मुझको जान सकोगे तो मैं कहता हूँ कि तुम्हारी विभूतियाँ तो अनन्त अपार है उनकी धारणा करना किसी पुरुष के लिये ही असाध्य है। अतः मेरा अधिकार तथा सामर्थ्य विचार कर मुझसे तुम किन-किन भावों में (पदार्थ में) चिन्तन करने योग्य हो अर्थात् किन-किन पदार्थों में तुम्हारा चिन्तन करने से अन्तःकरण शुद्ध

होकर तुम्हारा यथार्थ स्वरूप जाना जायगा उन पदार्थों को मैं जानना चाहता हूँ। प्रश्न होगा कि तुम किन-किन भावों से मुझे चिन्तन कर सकोगे वह मैं कैसे निर्धारण कर सकूँगा इसलिये कहता हूँ तुम योगी हो अर्थात माया के योग से तुम निरतिशय ऐश्वर्यादि शक्ति से सम्पन्न हो सभी विभूतियाँ तुम्हारा निजी (स्वरूपभूत) होने के कारण इनमें से कौन कौन विभूतियाँ का ध्यान मेरे अनुकूल होगा वह तुम ही उपदेश कर सकते हो दूसरा नहीं। फिर तुम सर्वज्ञ भगवान भी हो अतः मेरी किन-किन पदार्थों में ध्यान करने की सामर्थ्य (योग्यता) है वह निर्णय करना तुम्हारे लिये कोई कठिन बात नहीं है। 'योगिन्' एवं 'भगवन्' इन दोनों सम्बोधन द्वारा यही अभिप्राय व्यक्त किया जा रहा है।

[प्रश्न है, क्यों तुम्हारे निकट पहले ही तो (सप्तम तथा नवम अध्याय में) संक्षेप में विभूतियों का वर्णन मैंने किया है। पुनः उसे सुनने के लिए तुम्हारा आग्रह क्यों है ? इसके उत्तर में अर्जुन कह रहे हैं—]

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

अन्वय—हे जनार्दन ! आत्मनः योगम् विभूतिम् च विस्तरेण भूयः कथय। हि अमृतम् शृण्वतः मे तृप्तिः नास्ति।

अनुवाद—हे जनार्दन ! तुम अपना योग (ऐश्वर्य) तथा विभूतियों का विस्तृत रूप से पुनः वर्णन करो क्योंकि तुम्हारे मुख से निर्गत वाक्यरूप अमृत पान कर मेरी अभी भी तृप्ति (परितोष) नहीं हुई है।

भाष्यदीपिका—हे जनार्दन—'अर्द' धातु का अर्थ गतिरूप कर्म, जो गति के हेतु होते हैं उसको अर्दन कहा जाता है। जनसमूह की अर्थात् देव शत्रु असुरों की नरकादि गति की प्राप्ति का हेतु होता है इसलिए भगवान् को जनार्दन कहा जाता है। अथवा अर्द शब्द का अर्थ याञ्चा अथवा प्रार्थना करना, अतः लोगसमूह भगवान के निकट अभ्युदय (अर्थात् स्वर्गादि लोक की प्राप्ति) के लिये एवं निःश्रेयस (मोक्ष) के लिये याञ्चा करते हैं, इसलिए भी भगवान को जनार्दन कहा जाता है। अर्जुन की प्रार्थना भगवान् पूर्ण करेंगे ही ऐसा दृढ विश्वास सूचित करने के लिए ही अर्जुन ने 'जनार्दन' कह कर सम्बोधन किया। आत्मनः योगम् विभूतिम् च—तुम अपना योग (ऐश्वर्य) एवं विभूति विस्तरेण—विस्तारपूर्वक भूयः कथय—पुनः कहो [ताकि उन्हें

ध्यान के अवलम्बन के रूप में ग्रहण कर सकूँ (श्रीधर)]। यद्यपि पहले (सप्तम अध्याय में तथा नवम अध्याय में) तुमने अपनी विभूतियों का वर्णन किया किन्तु उसे तुमने अति संक्षेप में कहा था, इसलिए तुम्हारे मुख से विस्तारपूर्वक उसे पुनः सुनना चाहता हूँ, तुम कृपा कर मेरी इस इच्छा को पूरण करो क्योंकि तुम तो जनार्दन हो (सकल प्रार्थना पूरणकारी हो), यही अर्जुन के कहने का अभिप्राय है। प्रश्न है—क्यों संक्षेप से कही गई मेरी विभूतियों को ध्यान करने से ही तो मुझको प्राप्त हो सकते हो, अतः विस्तार-पूर्वक क्यों फिर सुनना चाहते हो ? इसके उत्तर में अर्जुन कहता है। हि—चूँकि अमृतम् शृण्वतः मे तृप्तिः नास्ति—[तुम्हारे मुख से निःसृत प्रत्येक पद अमृत के समान अत्यन्त स्वादिष्ट (मधुर) है, अतः तुम्हारा वाक्यरूप] अमृत श्रवण कर (कर्ण के द्वारा पान कर) मेरी तृप्ति (परितोष) नहीं हो रही है। [मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—इस स्थल में "त्वद्वाक्यम्" (तुम्हारा वाक्य) ऐसा न कहकर केवल 'अमृतम्' कहने से अकुति, अतिशयोक्ति एवं रूपक इन त्रिविध अलंकारों का मिश्रण हुआ है एवं इससे यही व्यक्त हो रहा है कि भगवान् के वाक्यों में अति माधुर्य रहने के कारण वह अनुभव कर भगवान का वाक्य सुनने के लिए अर्जुन की अत्यधिक उत्कण्ठा अथवा आग्रह उत्पन्न हुआ है। भगवत्तत्त्व तथा लीला पुनः पुनः श्रवण करने में ऐसी उत्कट इच्छा तथा अत्यधिक रुचि (आग्रह) नहीं होने से भगवत्स्वरूप के सम्बन्ध में ज्ञानलाभ करने के लिए यथार्थ अधिकारी होना सम्भव नहीं है—यही तात्पर्य है।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—विभूतियों के चिन्तन से चित्त बहिर्मुख होनेपर भी उसमें विभूतियों के प्रकारभेद से जैसा तुम्हारा ही चिन्तन होता रहे वैसा ही तुम विस्तार पूर्वक कहो यह अर्जुन का निवेदन है—आत्मनः योगम्—तुम्हारे आत्मविषयक योग को अर्थात् सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता आदि-रूप योग के ऐश्वर्य को विभूतिम् च—तथा विभूतियों को भी विस्तरेण पुनः कथय—विस्तारपूर्वक फिर कहो हि—क्योंकि अमृतम् शृण्वतः मे तृप्तिः नास्ति—तुम्हारे अमृतरूप वचनों को सुनते सुनते मेरी तृप्ति नहीं होती—"बहुत हो गया", इस प्रकार पर्याप्तबुद्धि नहीं होती है।

(२) शंकरानन्द—प्रकृत प्रश्न का उपसंहार करते हैं। जो उत्पन्न होता है वह जन अर्थात् दृश्यवर्ग है, उसको बाहर एवं भीतर सब ओर से जो अर्दन करते हैं अर्थात् व्याप्त करते हैं वे जनार्दन हैं—उनकी ही संबुद्धि है जनार्दन—हे जनार्दन! अर्थात् हे सर्वव्यापिन्! आत्मनः—आत्मा के

(परमात्मा के) योगं—योग को अर्थात् मायाकृत ऐश्वर्य विशेष को विभूतिं च—एवं विभूति को भूयः—पुनः विस्तरेण—विस्तार के द्वारा नाम रूप आदि भेद से विशेषरूप से कथय—कहिये। यदि शंका हो कि 'अक्षरं ब्रह्म परमम्', 'अहं क्रतुरहं यज्ञः' तथा 'महर्षयः सप्त पूर्वे' इत्यादि के द्वारा अष्टम, नवम एवं दशम अध्यायों में संक्षेप से एवं विस्तृतरूप से विभूतिसमूह व्यक्त हुए हैं, पुनः पिष्ट-पेषण-न्याय के द्वारा उसकी पुनरुक्ति करने से फल क्या है ? तो इसमें 'तृप्ति' इत्यादि कह रहे हैं। हि—चूँकि परमेश्वररूप तुम्हारा अमृतम् शृण्वतो—अमृत (वचन) श्रवण कर, कर्ण के द्वारा पान कर मे तृप्तिः न अस्ति—मेरी तृप्ति नहीं हो रही है, इसलिए पुनः कहिए। कहने का अभिप्राय यह है—अध्यात्म आदि भेदों से भिन्न 'सब कुछ ही ब्रह्म है' ऐसी उपासना करो, यह अष्टम अध्याय में उक्त हुआ है। वहाँ सर्वात्मा ब्रह्म में जो मन्दबुद्धि पुरुष नाम, रूप, जाति आदि भेद देखता है एवं उन भेद वासना के द्वारा दूषित अन्तःकरण सम्पन्न होने के कारण उसके लिये भेदबुद्धि का त्याग एवं अभेद बुद्धि का उदय नहीं होने के कारण उक्त उपासना सम्भव ही नहीं है। नवम अध्याय में भी 'मैं क्रतु हूँ' इसके द्वारा सर्वात्मत्व का प्रतिपादन किया है, वहाँ भी विशेष अवलम्बन नहीं रहने के कारण मन प्रवेश नहीं कर सकता है। दशम अध्याय में भी सामान्यरूप से ही कहा है, इसलिए उसमें भी मन का विशेष आलम्बन नहीं दीखता है, इसलिए भगवान की उपासना में मूढ़ बुद्धि पुरुष की बुद्धि की स्थिरता के लिये विभूतियों का विस्तार कर वर्णन करना चाहिए।

(३) नारायणी टीका—अर्जुन भगवान् के यथार्थ (निरुपाधिक) स्वरूप को जानना चाहते हैं किन्तु जो मन अनादि काल से गुण को (त्रिगुणों से उत्पन्न हुए बाह्य विषयों को) ही चिन्तन करने में अभ्यस्त हुआ है वह अकस्मात् गुणातीत (सर्व-उपाधि से रहित) परब्रह्म के शुद्ध स्वरूप का कैसे ध्यान कर सकेगा ? सगुण में अभ्यस्त मन का ध्येय विषय भी सगुण ही होना चाहिए। इसलिये पूर्ववर्ती दो श्लोकों में अर्जुन ने भगवान् की विभूतियों का वर्णन करने के लिये भगवान से अनुरोध किया जिससे विभूति युक्त भगवान् का ध्यान कर अर्थात् चित्तवृत्ति स्थिर कर निर्विकल्प समाधि से भगवान् के निरुपाधिक शुद्ध चैतन्यस्वरूप का साक्षात्कार कर सके। अघटन घटना पटीयसी अचिन्त्य माया शक्ति का योग होनेपर पर निर्गुण निरुपाधिक परब्रह्म सगुण सोपाधिक ईश्वर होता है अर्थात् सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्व इत्यादि निरतिशय ऐश्वर्यों से युक्त प्रतीत होता है। माया के योग से इसप्रकार होने के

कारण इन सब निरतिशय ऐश्वर्य आदि (अर्थात् सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्व आदि) को ये भगवान् के अपने (आत्मविषयक) योग [आत्मनः योगः] कहते हैं। इन निरतिशय ऐश्वर्य की अर्थात् योग की जो विशेष विशेष स्फूरण (अभिव्यक्ति या बहिः प्रकाश) होता है वही विभूति है। [वि (विशेषा भूति अभिव्यक्ति अर्थात् ग्राह्यरूप से प्रकट अवस्था)]। भगवान् के योग का विस्तार सुनने से भगवान् ही सर्वस्वरूप हैं, सर्वशक्तिमान हैं, एवं सर्वेश (सबके अन्तर्यामी ईश्वर) है यह बुद्धि दृढ़ होकर भगवान् में श्रद्धा तथा विश्वास शरणागति की (आत्मसमर्पण की) भावना उत्पन्न होती है और उनकी विभूतियों का विस्तार सुनने पर उनमें से कौन कौन भाव में ध्यान करने में अधिकारी है वह निश्चय कर भक्त ध्यानाभ्यास से भगवान् में चित्तसमाहित कर उनका यथार्थस्वरूप दर्शन (अनुभव करने में समर्थ होता है। इसलिये अर्जुन भगवान् को कहते हैं—तुम्हारा आत्मभूत योग तथा विभूति भूयः (फिर) विस्तारपूर्वक कहो। यद्यपि भगवान्ने ७ वें तथा ९ वें अध्यायों में अपनी ऐश्वर्य तथा विभूति का संक्षेप से वर्णन किया किन्तु वह उपरि-उक्त कारण से अर्जुन के लिये (अथवा उनके समान दूसरे भक्तों के लिये) पर्याप्त नहीं है। फिर इन योग और विभूति जितनी ही सुनी जाती है इतना ही अमृत का द्वार (अक्षय अव्यय अविनाशी परमानन्दरूप मोक्ष का द्वार) खुल जाता है अतएव ये सब वाणी जब स्वयं भगवान् के मुखसे निःसृत होती है तब वे अमृतत्व प्राप्ति के सहायक होने के कारण वे अमृतस्वरूप (अत्यन्त स्वादिष्ट अत्यन्त चित्तप्रसादकर) है। इसप्रकार वचन सुनते हुए कोई भी मुमुक्षु भक्त की तृप्ति नहीं हो सकती। इसलिये अर्जुन कह रहे हैं—भूयः कथय अर्थात् उस अमृतरूप वाणी विस्तारपूर्वक फिर (अथवा बारंबार) मुझे पिलाओ जबतक मेरा मन उसमें पूर्णरूप से निमग्न होकर अपने को मिटाकर तुम्हारे साथ एक हो न जाय।

[अब श्रीभगवान् अर्जुन का वाक्य सुनकर उत्तर दे रहे हैं—]

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

अन्वय—हे कुरुश्रेष्ठ हन्त ते दिव्याः आत्मविभूतयः प्राधान्यतः कथयिष्यामि हि मे विस्तरस्य अन्तः नास्ति।

अनुवाद—श्रीभगवान् ने कहा—हे कुरुश्रेष्ठ ! अब तुमको अपने दिव्य (अप्राकृत) विभूतिसमूहों में जो जो प्रधान हैं उनको तुम्हें कहूँगा। मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है (अर्थात् अपनी विभूति यदि विस्तृत रूप से कहना चाहूँ तब उसका अन्त कभी नहीं होगा)।

भाष्यदीपिका—हे कुरुश्रेष्ठ—हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! हन्त—इदानीम् अर्थात् अब [यह हर्षसूचक अव्यय अनुमति का सूचक है अर्थात् तुमने जिसके लिये प्रार्थना की, वही मैं पूरण करूँगा, तुम व्याकुल मत होओ', इसप्रकार अर्जुन को आश्वासन देने के लिए 'हन्त' शब्द का प्रयोग किया गया है। ते—तुमको दिव्याः—साधारण लोगों की बुद्धि का अगोचर (अविषय) अतः अप्राकृत (असाधारण) आत्मविभूतयः—मेरी अपनी विभूतियों को प्राधान्यतः कथयिष्यामि—उनके प्राधान्य की ओर लक्ष्य कर कहूँगा अर्थात् जहाँ जहाँ मेरी जो जो प्रधान विभूतियाँ हैं उन प्रधान विभूतियों का (विशेष कर) वर्णन करूँगा। तुम जो अशेषरूप से—मेरी विभूतियों का विस्तार सुनना चाहते हो (गीता १०।१६) वह कहना असम्भव है—]। हि—क्योंकि (चूँकि) मे विस्तरस्य अन्तः नास्ति—मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है अर्थात् मेरी विभूतियों का वर्णन यदि कोई शत शत वर्ष तक भी करे तब भी उसका अन्त (शेष या समाप्ति) कभी नहीं होगा। इसलिए मेरी विभूतियों में जो जो प्रधान हैं उन्हीं का वर्णन करूँगा। [मधुसूदन सरस्वतीने श्लोक में 'हि' शब्द की प्रसिद्धि अर्थ में व्याख्या की अर्थात् मैं प्रधानतया अपनी उन असाधारण विभूतियों का ही वर्णन करूँगा जो दिव्य और प्रसिद्ध हैं]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—इसप्रकार प्रार्थना करने पर श्रीभगवान् बोले—हे कुरुवंशियों में श्रेष्ठ ! हन्त—यह अव्यय अर्जुन के प्रति अनुकम्पा (कृपा) भाव प्रकाश करने के लिये सम्बोधनरूप से प्रयुक्त हुआ है। दिव्याः आत्मविभूतयः ते प्राधान्यतःकथयिष्यामि—मेरी जो दिव्य (अलौकिक) विभूतियाँ है उनको मैं तुमको प्रधानता से कहूँगा हि—क्योंकि मे विस्तरस्य अन्तः न अस्ति—मेरी विभूतियों के अवान्तर विस्तार का अन्त नहीं है [इसलिये कुछ प्रधानभूत विभूतियों का ही वर्णन करूँगा]।

(२) शंकरानंद—स्वयं सर्वज्ञ श्रीभगवान् भी मन्दबुद्धि वाले मनुष्य की प्रज्ञा की मन्दता को उद्देश्य कर अर्जुनने जो प्रश्न किया, उस प्रश्नवाक्य से मानो सन्तप्त तथा दयापरवश होकर मन्दबुद्धि वालों पर अनुग्रह करने के लिए 'हन्त' इत्यादि के द्वारा कहा गया।

हन्त--हन्त शब्द खेद अर्थात् मन्दबुद्धि का, बुद्धि ही ऐसी है, यह प्रकाश कर रहा है। कुरुश्रेष्ठ--हे कुरुश्रेष्ठ! मूढ़बुद्धि पुरुष की बुद्धि के अनुरूप जो दिव्या आत्मविभूतयः--मेरी जो दिव्य (अप्राकृत) विभूतियाँ अर्थात् स्वरूपविशेष हैं, ते प्राधान्यतः कथयिष्यामि--उनमें से जो जो प्रधान (मुख्य) हैं उन्हें तुमको कहूँगा। मेरी विभूतियों में तेज, बल, पौरुष, विद्या, महत्त्व आदि गुणों से जो जो विभूतियाँ प्रधान (श्रेष्ठ) हैं, मूढ़ों की प्रीति, उत्साह, श्रद्धा तथा भक्ति को उत्पन्न करने वाली उस उस विभूति को मैं कहता हूँ, यही अर्थ है। मुख्य एवं अमुख्य समस्त विभूतियाँ कहनी चाहिए, ऐसी आकांक्षा होने पर 'न अस्ति' इत्यादि कहते हैं। मायारूप अपरिमित शक्ति से फैली हुई मे--मेरी विभूतियों के विस्तरस्य--विस्तार का अर्थात् बहुत्व का अन्तो न अस्ति--अन्त (शेष) नहीं है। गंगा की बालु का, समुद्र का जलकण एवं नक्षत्र की संख्या की परिसमाप्ति हो सकती है, किन्तु मेरी विभूति के विस्तार की समाप्ति नहीं है अर्थात् वह अनन्त है, यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—पूर्वश्लोक में अर्जुन ने भगवान् के योग ऐश्वर्य तथा विभूतियों को विस्तार पूर्वक सुनने की इच्छा प्रकट की किन्तु भगवान् अनन्त है, अतः उनकी मायारूप (संकल्परूप) शक्ति भी अनन्त है। वह मायाशक्ति ही भगवान् के यथार्थस्वरूप को आवरण कर उनको असंख्य विभूतियों के रूप में दिखा रही है, जिस प्रकार श्वेत वस्त्र रूप आधार (White screen) असंख्य चलचित्र के Cinema Pictures के रूप में दृष्ट होता है। अतः माया के कार्यरूप विभूतियों की सत्ता पारमार्थिक दृष्टि से भगवान् की सत्ता से पृथक् न होने के कारण ये भगवत्स्वरूप ही है। इसलिए भगवान् कहते हैं, अपरिमित शक्ति सम्पन्न मेरी स्वरूपभूता माया से ही मुझ अधिष्ठान सत्ता में ये सब विभूतियाँ फैली हुई है, अतः ये मेरी 'आत्मविभूतियाँ' है, अर्थात् आत्मा की स्वरूपभूत विभूतियाँ हैं। जब तक माया या अज्ञान का कार्य चलता रहेगा तब तक मेरी इन विभूतियों का विस्ता का अन्त (परिसमाप्ति) नहीं है। (आत्मज्ञान से अज्ञान का नाश होने पर ही माया से रचित इन सब विभूतियों की प्रतीति नहीं होती अर्थात् अद्वैत परब्रह्म का साक्षात्कार होने पर गन्धर्व नगर तुल्य प्रतीयमान असंख्य विभूतियाँ एक साथ लुप्त हो जाती हैं। आत्मसाक्षात् के पहले तक ही मेरी असंख्य विभूतियों की तथा जगत् प्रपञ्च की प्रतीति होती रहेगी 'नास्ति अन्त' इत्यादि वाक्य का यह तात्पर्य है।] ये मेरी आत्मभूत विभूतियाँ केवल

असंख्य ही नहीं हैं—ये दिव्य (अलौकिक) भी है, [अर्थात् मेरी अघटन घटना पटीयसी माया शक्ति से ही वे उद्भूत होते हैं अन्य किसी की शक्ति से नहीं। इन विभूतियों में से जो जो प्रधान (श्रेष्ठ) है उन्हें तुमको मैं कहूँगा क्योंकि जिनका अन्त नहीं है उनका पूर्णरूप से वर्णन असम्भव है। प्रश्न होगा यदि सभी विभूतियाँ मायारचित ही है (मिथ्या ही हैं), तो पूर्ण स्वरूप तुम ही परमार्थतः सभी विभूतिरूप में विद्यमान हो। इसी अवस्था में कोई विभूति प्रधान (मुख्य) है, और कोई (अप्रधान अर्थात् गौण हैं), ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं मालूम होता हैं। इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि यह खेद की बात है (हन्त) कि बहुत से मन्द बुद्धि वाले लोग परमार्थत्व को न जानते हुए मेरी विभूतियों में भेदबुद्धि रखकर यह प्रधान है, यह अप्रधान है ऐसा मान लेते हैं। वस्तुतः वह अज्ञान की दृष्टि है। मायामरीचिका का पानी मीठा है, या खारा है यह कहना जिस प्रकार व्यर्थ है, मेरी विभूतियों के बारे में यह प्रधान है, और यह गौण हैं, इसप्रकार कहना भी वैसा ही व्यर्थ है। तथापि जब तक अज्ञान रहता है तब तक किसी दृश्य वस्तु में माहात्म्य बुद्धि रहती है। और किसी में हीनत्व बुद्धि। इसप्रकार अज्ञानी को उद्देश्य कर ही मैं तुमको मेरी जो जो विभूतियाँ उनलोगों की दृष्टि में प्रधान है, उन्हें वर्णन करूँगा जिससे वे उन विभूतियों को ध्यान के विषयरूप से आश्रय कर अन्त में मेरे यथार्थ स्वरूप को जान सके।

[उनमें पहले जो प्रधान चिन्तनीय विभूति है उसे सुनो—]

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यश्च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

अन्वय—हे गुडाकेश ! अहम् सर्वभूताशयस्थितः आत्मा, अहम् एव भूतानाम् आदिः, मध्यं च, अन्तः, च ।

अनुवाद—मैं सर्वभूतों के अन्तःकरण में अवस्थित आत्मा हूँ, मैं ही सभी भूतों का आदि, मध्य एवं अन्त हूँ।

भाष्यदीपिका—हे गुड़ाकेश ! गुड़ा अर्थात् निद्रा, उसका ईश (प्रभु) जो हैं अर्थात् निद्रा को जिसने जय किया है उसको गुड़ाकेश अर्थात् जितनिद्र कहा जाता है। अथवा गुड़ा (घन) केश जिनका है उसको भी गुड़ाकेश कहा जाता है। अर्जुन जितनिद्र थे एवं उनका केश भी घन था। अतः उनको गुड़ाकेश कहा जाता है। जिसने निद्रा का जय कर लिया है वह

निरन्तर ईश्वर का चिन्तन तथा ध्यान करने को सामर्थ्य भी प्राप्त करता है। भगवान् के निरुपाधिक तथा सोपाधिक स्वरूप के ध्यान के सम्बन्ध में अब कहेंगे। वह ध्यान करने की सामर्थ्य अर्जुन की है यही सूचित करने के लिए 'गुड़ाकेश' शब्द के द्वारा भगवान् ने अर्जुन का सम्बोधन किया। भगवान् की दिव्य विभूतियों में प्रथम ध्येय (ध्यान का विषय) क्या है ? यह कहते हैं—]

अहं सर्वभूताशयस्थितः आत्मा—मैं (सर्वव्यापी वासुदेव) सकल भूतों का आशय में अर्थात् अन्तर्हृदयदेश में स्थित आत्मा (अन्तरात्मा) हूँ। 'आशेरतेऽस्मिन् विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञा इत्याशयः' अर्थात् जिसमें विद्या तथा कर्म-जनित पूर्वप्रज्ञा आहित रहती है उसको आशय अर्थात् हृदय कहा जाता है। भूतों के आशय में (हृदय में) (साक्षीरूप से) अवस्थित जो प्रत्यगात्मा (देहेन्द्रियादि से विलक्षण शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा) है वह मैं ही हूँ। उत्तम अधिकारियों के लिये मेरा यह निरुपाधिक स्वरूप ही नित्य (सर्वदा) ध्येय (ध्यान करने के योग्य) है। यदि बुद्धिमान्द्यवश (बुद्धि तीक्ष्ण न रहने के कारण) मेरे इस निरुपाधिक चैतन्यानन्दघन परमात्मस्वरूप को अपनी आत्मा के रूप से चिन्तन (ध्यान) करने में असक्त (असमर्थ) होओ तो अब जो सोपाधिक परमात्मा का भाव आगे वर्णन कर रहा हूँ उन भावों को अवलम्बन कर मेरा चिन्तन (ध्यान) कर सकते हो। अब सोपाधिक (उपाधियुक्त) मेरा स्वरूप कह रहा हूँ सुनो—अहं एव भूतानाम् आदिः च मध्यं च अन्तः च—मैं ही सभी भूतों का आदि (सृष्टि का कारण) हूँ अर्थात् मैं ही उत्पत्ति हूँ, मैं ही सभी का मध्य अर्थात् स्थिति हूँ एवं मैं ही अन्त (अर्थात् नाश या प्रलय) हूँ। आदि, मध्य तथा अन्त इत्यादि प्रत्येक शब्द के साथ 'च' शब्द युक्त होने का तात्पर्य यह है कि मैं ही सर्वभूतों की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय हूँ और मैं ही उनका (उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का) आदि (कारण) हूँ अर्थात् कार्य कारण आदि सब मैं ही हूँ, यही कहने का अभिप्राय है।

['अहमेव' शब्द के द्वारा समझाया जा रहा है कि मैं (भगवान्) ही सर्वकारण सर्वज्ञ तथा सर्वेश्वर परम पुरुष हूँ। अतः परम कल्याण लाभ करने के लिये एकमात्र मैं ही जीव का ध्येय हूँ, अन्य कोई नहीं है]।

यदि सभी के हृदय में अवस्थित मेरे सर्वोपाधि विवर्जित शुद्धचैतन्य-स्वरूप को अपनी आत्मा के रूप से ध्यान करने में असमर्थ होओ तब सर्व-

भूतों की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय के रूप में विराजमान एवं मैं ही सृष्टि, स्थिति, प्रलय का कारण (कर्ता) हूँ, इसप्रकार से ध्यान करना चाहिए, यही श्रीभगवान् के कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—उनमें पहले ऐश्वरीय (ऐश्वर्ययुक्त) रूप बताते हैं–हे गुडाकेश ! अहम् सर्वभूताशयस्थितः आत्मा—मैं समस्त भूतों के (प्राणियों के) आशय में (अन्तःकरण में) स्थित (सर्वज्ञता आदि गुणों से सम्पन्न अन्तर्यामी अर्थात् नियन्तारूप में स्थित) परमात्मा हूँ। अहम् आदिः च मध्यम् च अन्त एव च—सब प्राणियों का आदि (जन्म) मध्य (स्थिति) और अन्त (संहार) भी मैं ही हूँ। ['च' शब्दों से यह सूचित किया गया है कि] जन्म आदि का कारण भी मैं ही हूँ।

(२) शंकरानन्द—मुमुक्षुओं की चित्तशुद्धि के लिये उपास्य विभूति-समूह को व्यक्त करूँगा, ऐसा कहने से मुख्य अधिकारियों को भी इन्हीं की ही उपासना करनी चाहिए, ऐसा प्राप्त होने पर उनका उपास्य निर्विशेष ब्रह्म हैं, सविशेष नहीं, यह कहने के लिए पहले ही ब्रह्मविद् की उपास्य वस्तु किस प्रकार की है यह कहते हैं। गुड़ाका अर्थात् निद्रा, उसका ईश्वर गुडाकेश—जो निद्रा को अपने वश में कर लिया है वह जितनिद्र (गुडाकेश) है। हे गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः—सर्व के अर्थात् (ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब तक समस्त प्राणिसमूह के) आशय में आसमन्तात् अर्थात् सब ओर से सोता है अर्थात् सोये हुए व्यक्ति की निश्चलता के साथ जहाँ आत्मा स्थित रहता है, वह आशय है अर्थात् बुद्धिगुहा वहाँ स्वरूप से सर्वप्रकाशकरूप से एवं साक्षी के रूप से आत्मा स्थित है, इसलिये वह सर्वभूताशयस्थित है) अर्थात् समस्त भूतों के अधिवास, कूटस्थ, असंग, चिद्रूप आत्मा—आत्मा (प्रत्यगात्मा) अहं—मैं ब्रह्मविद् यतियों का उपास्य हूँ, यह अर्थ है, क्योंकि 'अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः' ('शरीर के अभ्यन्तर में एक ज्योतिर्मय शुभ्र सत्ता हो वर्तमान है, जिसको क्षीणदोष यति अर्थात् जो यति परमात्मा की उपासना से दोषों से मुक्त होकर चित्तशुद्धि प्राप्त किया है ऐसा यति देखता है') इत्यादि श्रुति है। इसप्रकार मुख्य अधिकारियों का उपास्य कह कर, मध्यम अधिकारियों का उपास्य 'अहम्' इत्यादि के द्वारा कह रहे हैं। अहम् भूतानाम्—मैं भूतसमूह का आकाशादि भूतों का आदिः—अव्यक्तस्वरूप कारण (उपादान) मैं हूँ। मध्यं च—भूतसमूह का मध्य अर्थात् स्थिति अर्थात् व्यक्तस्वरूप भी मैं हूँ च—एवं भूतानाम् अन्तः एव—भूतसमूह का

अन्त भी अर्थात् प्रलयरूप च अहम्—मैं ही हूँ। प्रपंच के कारण के रूप से प्रपंच के रूप से एवं प्रपञ्च के प्रलय के रूप से भी मैं स्थित हूँ। इसप्रकार सगुण परमात्मा मध्यम अधिकारियों का उपास्य है, यही अर्थ है।

(३) नारायणी टीका—अज्ञानरूप निद्रा ही परमात्मा में प्रधान प्रतिबन्धक है। इस निद्रा को जयकर निरन्तर साक्षीरूप से स्थित रहकर (सदा जाग्रत रहकर) अज्ञान तथा अज्ञान के कार्यों को देखने की जिसकी सामर्थ्य है, वही यथार्थ गुड़ा का (निद्रा का) ईश (शासनकर्ता) है अर्थात् अज्ञानरूप निद्रा उसको मोह में डाल नहीं सकती। अर्जुन भी मोक्ष का पूर्ण अधिकारी है क्योंकि वह भी जितेन्द्रिय है, यह सूचित करने के लिए यहाँ गुडाकेश कहकर सम्बोधन किया है। पहले अपना अपना वर्णाश्रमविहित कर्मों का भगवदर्पण बुद्धि से अनुष्ठान करने पर चित्तशुद्धि होती है। चित्त-शुद्धि न होने पर कोई भी दृढ रूप से भगवान् का निर्गुण या सगुण रूप की उपासना नहीं कर सकता। उपासना प्रधानतः दो प्रकार की होती है, निर्गुण ब्रह्म की तथा सगुण ब्रह्म की। चित्तशुद्धि होने पर गुरु तथा शास्त्र वाक्य से एकमात्र ब्रह्म का सत्यत्व तथा जगत् का मिथ्यात्व निश्चय होता है। जिनका इसप्रकार निश्चय हुआ है, उन सभी के हृदय में अवस्थित सर्वोपाधिवर्जित शुद्धचैतन्यस्वरूप भगवान् को अभिन्नरूप से (अपनी आत्मा के रूप से) अर्थात् मैं ही सर्वहृदय में प्रत्यगात्मा रूप से (नित्य साक्षीरूप से) विद्यमान चिदानन्दघन परब्रह्म हूँ, इस भावना से ध्यान करते हैं। जो ऐसा करने में असमर्थ है, उनलोगों को मुझको सगुण रूप से अर्थात् मैं ही आदि (उत्पत्ति) मध्य (स्थिति) तथा अन्त (नाश) हूँ, [सृष्टि, स्थिति प्रलय कर्ता रूप से एकमात्र मैं ही सर्वज्ञ ईश्वर हो) विद्यमान हूँ], इसप्रकार मेरी कारण तथा कार्य रूप से उपासना करना चाहिए। ये दोनों प्रकार के साधन ही शुद्ध अद्वैत तत्त्व में पहुँचा देते हैं। प्रत्यगात्मा तथा जीवात्मा का अभेद (एकत्व) भाव एक निर्विशेष शुद्ध अद्वैत तत्त्व में स्थिति के लिए सहायक होता है। सगुणोपासना में सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय के रूप में एवं उनके कारण के रूप से परमात्मा ही विराजमान है, ऐसी भावना रहती है। इसप्रकार की उपासना परिपक्व होने पर सृष्टि, स्थिति, प्रलय मायिक है, एवं नित्य शुद्ध परमात्मा ही उनका एकमात्र अधिष्ठान सत्ता अथवा आधार है ऐसा ज्ञान प्राप्त कर सगुणोपासक अद्वैततत्त्व में ही प्रतिष्ठित हो जाता है। इसलिए पहले ही कहा गया है 'यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते' (गीता ५।५)।

[मुझको अन्तर में सगुण ईश्वर रूप से भी ध्यान करने में जो असमर्थ है उनको बाह्य विषय के रूप से जो-जो विशेष भाव से मैं प्रकटित (प्रकाशित) होता हूँ, उस-उस विभूति का आश्रय करके ही ध्यान करना चाहिए, यही कहने के लिये २१ वें श्लोक से आरम्भ कर अध्याय के अन्त तक भगवान् ने अपनी प्रधान विभूतियों का वर्णन किया]

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिमर्रुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

अन्वयः—अहं आदित्यानाम् विष्णुः (अस्मि), ज्योतिषाम् अंशुमान् रविः (अस्मि) मरुताम् मरीचिः (अस्मि), अहम् नक्षत्राणाम् शशी (अस्मि) ।

अनुवाद—मैं द्वादश आदित्यों में विष्णु नामक आदित्य ज्योतिओं में अर्थात् प्रकाशक वस्तुओं में मैं (विश्वव्यापी) किरणों वाला सूर्य हूँ, उनचास मरुतों में मैं मरीचि नामक मरुत हूँ, एवं नक्षत्रों में मैं उनका अधिपति चन्द्रमा हूँ ।

भाष्यदीपिका—अहं आदित्यानाम् विष्णुः—मैं द्वादश आदित्यों में विष्णु नामक आदित्य हूँ । द्वादश आदित्यों में विष्णुरूप आदित्य से ही मेरा अधिक प्रकाश है । इसलिए वही प्रधान आदित्य है । अतः आदित्यों में जब मुझको ध्यान करोगे तब उनमें मेरी सर्वश्रेष्ठ विभूति जो विष्णु नामक आदित्य है उसी को ही (ध्येयरूप से) अवलम्बन कर ध्यान करोगे । ऐसा सर्वत्र समझना पड़ेगा । ज्योतिषाम् अंशुमान् रविः (अस्मि)—ज्योतिष्कों में अर्थात् प्रकाश करने वाली वस्तुओं में मैं किरणोंवाला सूर्य हूँ (क्योंकि सूर्य विश्वव्यापी प्रकाश है) ।

मरुतां मरीचिः (अस्मि) उनचास मरुतों में अर्थात् मरुत् (वायु) इस नाम से प्रसिद्ध देवताओं के भेदों में मैं मरीचि नामक मरुत हूँ । नक्षत्राणाम् शशी—(अस्मि) मैं नक्षत्रों में (नक्षत्रपति) शशी अर्थात् चन्द्रमा हूँ ।

[यहाँ "आदित्यानाम् अहं विष्णुः" इत्यादि वाक्यों में निर्धारण के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है किन्तु कहीं कहीं सम्बन्ध अर्थ में भी षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है जैसे—'भूतानामस्मि चेतना, (भूतों की चेतना) मैं हूँ । वामन और रामादि के अवतार समस्त ऐश्वर्यों से

सम्पन्न होते हुए भी वामन और रामादि रूप से ध्यान बताने की दृष्टि से उनको विभूतियों में कहे गये हैं—जैसे कि 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' इसमें उस रूप से ध्यान बताने की दृष्टि से अपने को भी विभूति रूप से कहा है। (मधुसूदन)]

टिप्पणी। (१) श्रीधर—अब अध्याय की समाप्ति पर्यन्त विभूतियों का वर्णन करते हैं। अहम् आदित्यानाम् विष्णुः अस्मि—बारह आदित्यों में विष्णु (वामन) मैं हूँ। ज्योतिषाम् अहम् अंशुमान रविः अस्मि— प्रकाशों में विश्वव्यापी रश्मियों से युक्त रवि (सूर्य) मैं हूँ। मरुताम् मरीचिः अस्मि—देवविशेष मरुद्‌गणों में मरीचि नामक मरुत् देवता मैं हूँ। अथवा आवह, प्रवह, विवह, परावह, उद्‌वह, संवह और परिवह नाम से जो सात मरुद्‌गण (वायु) हैं उनमें मैं मरीचि हूँ। नक्षत्राणाम् अहम् शशी—नक्षत्रों में मैं चन्द्रमा हूँ। ['यहाँ आदित्यानाम् अहं विष्णुः' इत्यादि वाक्यों ये प्रायशः निर्धारण में षष्ठी विभक्ति है। कहीं-कहीं 'भूतानामस्मि चेतना' इत्यादि वाक्यों में सम्बन्ध अर्थ में षष्ठी विभक्ति है। उसको वहीं-वहीं ही दिखावेंगे। 'विष्णु' इत्यादि अवतारों में भी अतिशय प्रभावमात्र प्रकट हुआ था उसे बताने की इच्छा से विष्णु आदि को भी विभूतिरूप में निर्देश किया गया। आगे इस अध्याय का अर्थ स्पष्ट होने पर भी कहीं-कहीं कुछ व्याख्या करेंगे।]

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार से उत्तम एवं मध्यम अधिकारियों के उपास्यविशेष का निरूपण करके अब अधम अधिकारियों की उपासना के लिए स्वयं ही विभूति विशेषों का निरूपण कर रहे हैं। द्वादश आदित्य समूह मेरी ही विभूति है (नाम, रूप आदि के द्वारा जो विशेष का हेतु होता है, अर्थात् विशेषता प्रकट करता है वह विभूति है) उन आदित्यानाम्—आदित्यों में तो विष्णुः अहम्—मैं विष्णु हूँ—विष्णुनामकआदित्य में मेरे प्रभाव के आतिशय्य रहने के कारण वह मेरा विभूतिविशेष है वह परमेश्वर ही हैं, इस प्रकार वह मद्‌बुद्धि से (ईश्वर बुद्धि से) उपास्य है अर्थात् उसकी उपासना करनी चाहिए। ज्योतिश्चक्र में वर्तमान ज्योतिषां—ज्योतिसकल मेरी ही विभूति हैं उनमें तो अंशुमान्—रश्मिमान् रविः—रवि (सूर्य) मैं ही हूँ—तेज अधिक होने के कारण वह मेरा विभूतिविशेष है। वह परमेश्वर ही है, इस प्रकार मद्‌बुद्धि से (ईश्वर बुद्धि से) वह उपास्य है, यह कहने का अभिप्राय है। मरुताम्—मरुत्‌गणों में मरीचिः अहम्—मैं मरीचि हूँ। समस्त देवता मेरी ही विभूतिमात्र ही हैं। मरीचिनामक देवता

मेरी विशेष विभूति है; वह मद्बुद्धि से (ईश्वरबुद्धि से) उपास्य है—यही अर्थ है। अश्विनी आदि नक्षत्राणाम्—(नक्षत्र मेरी ही विभूतिमात्र है। उन नक्षत्रों के मध्य में शशी अहम्—मैं शशी अर्थात् चन्द्र शोभा की अधिकता के कारण वह मेरी विशेष विभूति है अतः वह मद्बुद्धि से (ईश्वरबुद्धि से) उपास्य है। इस प्रकार जो शब्द के अन्त में षष्ठी विभक्ति है उसमें विभूतित्व एवं प्रथमान्त एवं द्वितीयायान्त में विभूतिविशेषत्व तथा ईश्वररूप से उपास्यत्व समझना चाहिए ॥ २१ ॥

नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में अन्तररहस्य में भगवान् का ध्यान किस भाव से करना चाहिये यह कहा गया है। अब बाहर किन किन विभूतियों को ध्येयरूप से ग्रहण कर भगवान् का ध्यान करना होगा यह कहते हैं। भगवान् कह रहे हैं कि सभी श्रेष्ठ वस्तु में मेरी विभूति (ऐश्वर्य) विशेषरूप से प्रकाशित है। द्वादश आदित्य मैं विष्णु (वामन अवतार) प्रधान है क्योंकि उसमें मेरा प्रकाश अधिक है। इसी प्रकार अग्नि आदि प्रकाशशील पदार्थों में सूर्य में मेरा प्रकाश अधिक है तथा मरुद् गणों में मरीचि एवं अश्विनी भरणी आदि नक्षत्रों में चन्द्र रूप में मेरा प्रकाश अधिक है। यद्यपि सब कुछ मैं ही हूँ तथापि प्रकाश की अधिकता के कारण मैं विशेष भाव से विष्णु (वामन), सूर्य, मरीचि तथा चन्द्र रूप से विद्यमान हूँ। अतः उसे उस रूप में परमेश्वर बुद्धि से मैं उपास्य हूँ, अर्थात् मेरा उस उस विशेषरूप से ध्यान करना चाहिये, यही कहने का अभिप्राय है। अहम् विष्णुः—इस वाक्य का तात्पर्य है कि विष्णु नामक आदित्य मैं हूँ अथवा मैं आदित्यो में वामन अवतार हूँ धाता, विधाता, मित्र, अर्यमा रुद्र, वरुण, सूर्य भग पूषा, सविता त्वष्टा तथा विष्णु—इन सब देवों का कश्यप से अदिति के गर्भ में जन्म हुआ। इसलिये इन देवों को आदित्य कहा जाता है। इस अदिति के गर्भ से श्री भगवान् ने भी वामन अवतार के रूप से जन्म ग्रहण किया था, इसलिये आदित्यों में (अदिति नन्दनों में) वामनरूपी उपेन्द्र (विष्णु) श्रेष्ठ है। पूर्ण भगवान की विशेष-विशेष अंश से अभिव्यक्ति को विभूति कही जाती है किन्तु वामन, राम प्रभृति अवतार सर्वैश्वर्यशाली होने के कारण वे भगवान् का पूर्णस्वरूप ही है। तथापि उनका भी ध्यान करना पड़ेगा, ऐसा कहने के अभिप्राय से अन्यान्य विभूतियों में उनका भी उल्लेख किया गया है। पूर्ण भगवान् के अंश की अभिव्यक्ति काल्पनिक मात्र है क्योंकि पूर्ण का कोई अंश नहीं हो सकता है। अतः विभूतियों में वामन राम इत्यादि अवतारों का नाम रहने से भगवान के पूर्णत्व की कोई हानि नहीं हुई।

[और भी सुनो—]

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

अन्वय—(अहं) वेदानाम् सामवेदः अस्मि, देवानाम् वासवः अस्मि, इन्द्रियाणां च मनः अस्मि भूतानां च चेतना अस्मि ।

अनुवाद—चारवेदों में मैं सामवेद हूँ, देवों में मैं इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मैं मन एवं भूतों में (प्राणियों में) मैं चेतना हूँ ।

भाष्यदीपिका—(अहं) वेदानां सामवेदः अस्मि—मंत्र ब्राह्मण सहित ऋक्, यजुः, साम, अथर्व इन चारों वेदों में जो गान की मधुरता के कारण अत्यन्त रमणीय है वह सामवेद मैं हूँ अर्थात् सर्ववेदों के रूप में मैं स्थित रहने पर भी सामवेद में मेरा अधिक प्रकाश है, अतः वेदों में जब मेरा ध्यान करना चाहोगे तब सामवेदको अवलम्बन कर मेरा ध्यान करो यही कहने का अभिप्राय है। देवानाम् वासवः अस्मि—देवगण अर्थात् आदित्य प्रभृति देवों में वासव अर्थात् देवताओं के अधिपति इन्द्र हूँ। इन्द्रियाणां च मनः अस्मि—एकादश इन्द्रियों में अर्थात् वाक् पाणि पाद पायु उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ चक्षु, कर्ण, नासिका जिह्वा तथा त्वक् ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन—इन एकादश इन्द्रियों में संकल्पविकल्पात्मक मन हूँ। मन का धर्म ही संकल्प विकल्प करना। इसलिए मन को संकल्पविकल्पात्मक कहा जाता है, और वह मन ही संकल्प के द्वारा समस्त इन्द्रियों को कार्य में प्रवर्तित करता है, इसलिए मन इन्द्रियों का प्रभु है। अतः इन्द्रियों में मन श्रेष्ठ है और वह मन मैं हूँ। भूतानाम् चेतना अस्मि—सब भूतों में (प्राणियोमें) मैं चेतना हूँ। कार्यकारण के संघातरूप (समुदायरूप) शरीर में सदा अभिव्यक्त (प्रकाशित रहनेवाली) जो बुद्धिवृत्ति है, उसका नाम चेतना है। [समस्त प्राणियों से सम्बन्ध रखने वाले परिणामों में चेतना को अभिव्यक्त (प्रकाशित) करने वाली बुद्धि की वृत्तिरूप चेतना मैं हूँ। (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—वेदो में सामवेद हूँ। देवों में वासव (इन्द्र) मैं हूँ (इन्द्रियों में मन मैं हूँ)। और भूतों की चेतना अर्थात् ज्ञान-शक्ति मैं हूँ।

(२) शंकरानन्द—जो होते हैं वे भूत हैं, भूतानाम्—भूतसमूहों में

अर्थात् जीव के द्वारा अधिष्ठित शरीर उन शरीरों में चेतना—चेतना (बुद्धि से लेकर स्थूल तक समस्त पदार्थों को जो चेतन करती है, वह चेतना है) अर्थात् बुद्धि की साभास वृत्ति [बुद्धि स्वयं जड़ है। आत्मा का आभास प्राप्त होकर बुद्धिवृत्ति अन्य सब पदार्थों को चेतन करती है। अतः चैतन्य स्वरूप आत्मा की आभासयुक्त बुद्धिवृत्ति ही चेतना है।] वह मैं अस्मि-हूँ यही अर्थ हैं। अवशिष्ट भाग स्पष्ट है।

(३) नारायणी टीका—सभी वेद शब्दों की राशि ही है किन्तु जिसमें शब्द छन्दः से युक्त तथा स्वरलहरी से सम्पन्न है उन शब्दों की आकर्षणी शक्ति अधिक है अर्थात् वे गान के माधुर्य से अधिक रमणीय होते है। अतः मेरी विभूति का विकास भी उनमें अधिक है। सामवेद वैसा छन्दः तथा स्वरलहरी से युक्त है। अतः वेदों के मध्य में सामवेद श्रेष्ठ है अर्थात् सामवेद के रूप से मैं उपास्य हूँ। इस प्रकार रुद्र, आदित्य आदि देवों में मैं सर्वदेवो के अधिपति इन्द्र हूँ अर्थात् देवों में इन्द्ररूप से मेरी उपासना करनी चाहिए। पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय तथा मन इन एकादश इन्द्रियोंसें मैं संकल्पविकल्पात्मक मन हूँ अर्थात् मन मेरी श्रेष्ठ विभूति (विशेष प्रकाश) है। मन सब इन्द्रियों का कर्म में प्रवर्तक है। संकल्पविकल्प ही मनका स्वभाव है। संकल्पविकल्प से विषय के साथ संग होने पर प्रयोजन अनुभव होता है एवं तत्पश्चात् उस प्रयोजन की सिद्धि के लिये मन द्वारा सभी इन्द्रियाँ कर्म में प्रवृत्त होती हैं। इसलिये मन में मेरे ऐश्वर्य का अधिकतर प्रकाश रहने के कारण मन इन्द्रियों में श्रेष्ठ है अर्थात् मैं (परमात्मा) ही मनरूप से विद्यमान हूँ' इस प्रकार की भावना द्वारा मन की ब्रह्मरूप से उपासना होनी चाहिए—यही कहने का अभिप्राय है। सर्वभूतों के मध्य जो चेतन को (ज्ञान को) प्रकट करने वाली बुद्धिवृत्ति है अर्थात् ज्ञानशक्ति है वह मैं ही हूँ अर्थात् सर्वप्राणियों में ज्ञानशक्ति मेरी विशेष विभूति है उसको परमात्मा के रूप से ध्यान या उपासना करनी चाहिए। लोहपिण्ड को अग्निका संयोग प्राप्त होने से अग्नि का धर्म प्राप्त होता है क्योंकि अग्निकी अभिव्यक्ति (प्रकाश) उसमें होता है एवं लोग समूह भी उस लोहपिण्डको अग्नि बुद्धिसे ग्रहण करते हैं। उसी प्रकार देहेन्द्रियादि के संघात में बुद्धिवृत्ति भी चैतन्य स्वरूप आत्मा का संयोग प्राप्त होने पर चेतना (ज्ञानशक्ति) उत्पन्न होती है अर्थात् चैतन्यस्वरूप आत्मा जब देहेन्द्रियों को ही अज्ञान से अपना स्वरूप मानकर 'वह मैं हूँ' इस प्रकार अभिमान करता है तब बुद्धिवृत्ति में आत्मा का चिदाभास हुआ है ऐसा कहा है एवं आत्मा के आभास से अनुविद्ध (संयुक्त)

होने पर बुद्धिवृत्ति भी चैतन्यधर्म प्राप्त होती है एवं जलते हुए लोहपिण्ड का जिस प्रकार भ्रान्ति से अग्निरूप से ग्रहण होता है उसी प्रकार बुद्धिवृत्ति चित प्रतिबिम्ब से (चिदाभास से) युक्त होने पर उसको ही मूढ लोग आत्मा के रूप से ग्रहण करते हैं। किन्तु भगवान् कहते है कि सभी प्राणिओं में ही चेतना (ज्ञानशक्ति) मैं हूँ कारण चेतना विना कोई भी जीव कार्य नहीं कर सकता। इसलिये चेतना ही श्रेष्ठ है अर्थात् मेरी विशेष विभूति है अर्थात् चेतना परमात्मा के रूप से उपास्य है।

[पुनः—]

रुद्राणां शंकरश्चाऽस्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चाऽस्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

अन्वय—रुद्राणां च शंकरः अस्मि यक्षरक्षसाम् वित्तेशः (अस्मि) वसूनां च पावकः अस्मि, अहं शिखरिणाम् मेरुः (अस्मि)

अनुवाद—मैं एकादश रुद्रों में शंकर हूँ यक्षराक्षसों में मैं कुवेर हूँ, अष्टवसुओं में मैं पावक (अग्नि) हूँ एवं पर्वतों में मैं सुमेरु हूँ।

भाष्यदीपिका—रुद्राणां च शंकरः अस्मि—एकादश रुद्रों में मैं शंकर हूँ। यक्षरक्षसाम् वित्तेशः (अस्मि)—यक्ष तथा राक्षसों में मैं (धनपति) कुवेर हूँ। वसूनां च पावकः—अष्टवसुओं में मैं पावक (अग्नि) हूँ अहं शिखरिणां मेरुः (अस्मि)—मैं उच्चशिखर (उच्च शृंग) युक्त पर्वतों में मेरु (पृथ्वी के मध्यभागस्थित सुवर्णमय मेरु पर्वत) हूँ।

टिप्पणी (१) श्रीधर—(मैं रुद्रो में शंकर हूँ)। यक्ष तथा राक्षसोंमें धन का अधिपति कुवेर मैं हूँ। [राक्षस और यक्षो में क्रूरता आदिकी समानता होने के कारण राक्षस के साथ यक्षों को एक साथ निर्देश दिया गया है] वसुओं में पावक (अग्नि) मैं हूँ। शिखरवालों में अर्थात् ऊँचे उठे हुए पर्वतों में मेरु मैं हूँ।

(२) शंकरानन्द—रूद्राणाम्—रुद्रों में अर्थात् एकादश रुद्रों में शंकरः—शंकर जो रुद्र है वह मैं ही हूँ। यक्षरक्षसाम्—यक्ष और राक्षसोंमें वित्तेशः—वित्तेश (धनपति कुवेर) भी मैं हूँ। वसूनां—वसुओं में पावकः—पावक अर्थात् अग्नि मैं हूँ। शिखरिणाम्—शिखरों में अर्थात् अति उन्नत पर्वत समूहों में मैं मेरुः—मेरु हूँ।

(३) नारायणी टीका—भगवान् सब कुछ है तथापि उनकी विभूति (विशेष प्रकाश) विशेष विशेष स्थान में दृष्ट होती है। इसलिये श्रीभगवान्

कह रहे हैं कि अज, एकपाद, अहिर्बुध्न, विरूपाक्ष, सुरेश्वर, जयन्त, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वैवस्वत, सावित्र, हर, रुद्र इन एकादश रुद्रों में साक्षात् शंकर मैं हूँ अर्थात् इनमें से शंकर में मेरा विशेष प्रकाश है। इसी प्रकार यक्ष और राक्षसों में वित्तेश (धनपति) कुबेर मैं हूँ अर्थात् कुबेर में मेरा विशेष प्रकाश है। आप, ध्रुव, सोम, धर, अनिल, अनल, प्रत्युष, प्रभास इन अष्ट वसुओं में मैं पावक (अग्नि) हूँ और उच्चशिखरयुक्त पर्वतों में मैं मेरु (सुमेरु) हूँ। अथवा इस श्लोक का अर्थ ऐसा भी किया जा सकता है कि मेरी माया से सृष्ट जगत् में भूतसमूह एक दूसरेको निरन्तर रोदन कराते है (रुलाते हैं) अतः वे सब रुद्र हैं किन्तु उन सबके अधिष्ठान सत्तारूप से सच्चिदानन्दघन मैं तो सदा ही शंकर [कल्याणकर] रूप में विद्यमान हूँ अर्थात् रुद्र रूपी मिथ्या विषय प्रपञ्च को छोड़कर जो मेरा आश्रय करते हैं वे शंकररूप मुझको प्राप्त होते हैं अर्थात् परम कल्याणरूप मोक्षको प्राप्त होते हैं। विषयरूप धन की लालसा मनुष्य को क्रूर (निष्ठुर-निर्दय) कर यक्ष और राक्षस में परिणत कर देती है किन्तु उन सब राक्षसवृत्ति के अधिष्ठान रूप में मैं वित्तेश (श्रेष्ठ वित्त के अर्थात् मोक्ष के अधिपति) रूप से विद्यमान हूँ। मुझको जो आश्रय करते हैं वे ही उस परम वित्त के अधिकारी होते हैं जो सभी प्राणियों के जो हृदय में वास करते हैं वे वसु है अर्थात् जीवात्मा बहु हैं इसलिये बहुवचन का प्रयोग किया गया है)। इन सब जीवात्मा के अधिष्ठान रूप से मैं सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा पावक (सबको पवित्र करने वाला हूँ) अर्थात् मेरे शरणापन्न भक्त लोग सर्वपापों से मुक्त होते हैं जितने उच्च (उन्नत) शिखरयुक्त पर्वत हैं उनमें मेरुपर्वत श्रेष्ठ है और उस मेरु पर्वत को केन्द्र कर पृथिवी परिभ्रमण करती है (घुमती है) मैं ब्रह्म (सबसे बड़ा) हूँ—मुझको ही केन्द्रकर सारा संसार घुमता हैं। उन्नत शिखर वाले पर्वतों के समान ऊँची ऊँची वस्तुओं की भी मैं ही एकमात्र नित्य सत्य अधिष्ठान सत्ता हूँ अतः मेरु के समान केन्द्ररूपी मुझको आश्रय करने पर इस संसारचक्र परिभ्रमण से जीव मुक्त हो सकता है यही कहने का तात्पर्य है।

[पुनः—]

पुरोधसाञ्च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! पुरोधसाम् माम् मुख्यम् बृहस्पतिम् विद्धि। सेनानीनाम् अहम् स्कन्दः (अस्मि), सरसाम् (अहम्) सागरः अस्मि।

अनुवाद—हे पार्थ! राजपुरोहितों में मुझे श्रेष्ठ बृहस्पति समझ। सेनापतियों में मैं देवसेनापति कार्तिक हूँ एवं प्रकृत्तिम् (स्वाभाविक) जलाशयों (सरोवरों) में मैं समुद्र हूँ।

भाष्यदीपिका—हे पार्थ—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! तुम्हारी माता पृथा सर्वत्र मेरी विभूतियाँ को दर्शन किया करती थी, अतः तुम भी ऐसा ही देख सकोगे इस विषय में कोई संशय नहीं है। यही पार्थ शब्द का तात्पर्यार्थ है। माम्—मुझको (परमात्मा को) पुरोधसां—राजपुरोहितों में मुख्यं बृहस्पतिं विद्धि—प्रधान अर्थात् श्रेष्ठ बृहस्पति जानना। देवराज इन्द्र सब राजाओं में श्रेष्ठ है और बृहस्पति इन्द्र का पुरोहित है, इस कारण से वे समस्त राजपुरोहितों में प्रधान अथवा श्रेष्ठ हैं।

सेनानीनाम्—सेनापतियों में अहं स्कन्दः—मैं स्कन्द अर्थात् देवसेनापति कार्तिकेय हूँ। सरसाम् अहम् सागरः अस्मि—देवत्वात् (देवताओं के द्वारा जिनका खनन किया गया है उन) जलाशयों में अर्थात् अकृत्तिम जलाशयों में मैं सागर हूँ [सगर राजा के पुत्रों के द्वारा खोदा हुआ जो जलाशय है उसको सागर कहा जाता है। देवताओं के खोदे हुए जलाशयों में मैं सगर पुत्रों का खोदा हुआ जलाशय (सागर) हूँ। (मधुसूदन)]

टिप्पणी। (१) श्रीधर—हे पार्थ (अर्जुन)! पुरोहितो में देवों का पुरोहित होने के कारण मुख्य पुरोहित बृहस्पति मुझे जानो। सेनापतियों में देवसेनापति स्कन्द (कार्तिकेय) मैं हूँ। सरोवरों में (स्थिर जलाशयों में) मैं समुद्र हूँ।

(२) शंकरानन्द—सरांसि—सर अर्थात् पुण्यतीर्थ उनके मध्य में सागरः अस्मि—मैं सागर हूँ। अन्य स्पष्ट।

(३) नारायणी टीका—श्रीभगवान् पहले ही कह चुके हैं कि जो कुछ श्रेष्ठ वस्तु है वही उनकी विभूति है अर्थात् उसमें ही उनका विशेष प्रकाश है। पुरोहितो में राजाओं के पुरोहित श्रेष्ठ है किन्तु राजाओ में भो देवराज इन्द्र श्रेष्ठ है। अतः बृहस्पति इन्द्र का पुरोहित होने के कारण सर्वश्रेष्ठ पुरोहित है। भगवान् कहते हैं मैं वह बृहस्पति हूँ अर्थात् बृहस्पति में मेरा विशेष प्रकाश है। उसी प्रकार सेनापतियों में मैं देवसेनापति कार्तिक हूँ और सरोवरों में मैं सागर हूँ।

[पुनः—]

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

अन्वय—अहम् महर्षीणाम् भृगुः (अस्मि), गिराम् एकम् अक्षरम् अस्मि; यज्ञानां जपयज्ञः अस्मि, स्थावराणाम् हिमालयः अस्मि ।

अनुवाद—मैं महर्षियों में भृगु हूँ, पदात्मक वाक्यों में मैं एक अक्षर ॐकार हूँ; यज्ञसमूहों में मैं जपयज्ञ हूँ; स्थावरों में (अचल पदार्थों में) मैं हिमालय हूँ ।

भाष्यदीपिका—अहं महर्षीणां भृगुः (अस्मि)—मैं महर्षियों में भृगु हूँ। ब्रह्मा के मन से (कल्पना से) सृष्ट मरीचि आदि सात महर्षियों में भृगु अति तेजस्वी थे, मैं वह भृगु हूँ। गिराम् एकम् अक्षरम् अस्मि—पदरूपा (पदात्मक) वाक्यों में मैं एक अक्षर ॐकार हूँ। ॐ ब्रह्म का प्रतीक एवं वाचक (नाम) होने के कारण समस्त पदलक्षणों में प्रधान अथवा श्रेष्ठ है। यज्ञानां जपयज्ञः अस्मि—श्रौत तथा स्मार्त सभी यज्ञों में मैं जपरूप यज्ञ हूँ। जपयज्ञ हिंसादि दोषशून्य होने के कारण अत्यन्त पवित्र है, इसलिए यह सकल यज्ञों में श्रेष्ठ है। "जपस्तु सर्वधर्मेभ्यः परमो धर्म उच्यते। अहिंसया हि भूतानां जपयज्ञ प्रवर्तते" ॥ (महाभारत) स्थावराणां हिमालयः अस्मि—स्थितिशील पदार्थों में मैं हिमालय हूँ। पहले कहा गया है 'मेरुः शिखरिणामहम्' (गीता १०।२३) अर्थात् शिखरवालों में मैं मेरु पर्वत हूँ, पुनः यहाँ कहते हैं स्थावरों में मैं हिमालय हूँ। इसमें क्या पुनरुक्ति दोष नहीं हुआ है ? उत्तर में कहा जायगा—नहीं, क्योंकि उच्च शिखर वाले पर्वतों में मेरु का शिखर सबसे उच्चतम है इसलिए वह श्रेष्ठ है तथा स्थितिशाली पदार्थों में हिमालय का आयतन सर्वापेक्षा बृहत् है, इसलिए हिमालय स्थावर (अचल) वस्तुओं में श्रेष्ठ है। अतः प्रतिपाद्य विषय भिन्न होने के कारण पुनरुक्ति दोष नहीं है (मधुसूदन)।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—(महर्षियों में मैं भृगु हूँ) गिराम् एकम् अक्षरम् अस्मि—पदात्मिका वाणी में मैं एक अक्षर ॐ कार नामक पद मैं हूँ। यज्ञानाम् इत्यादि—श्रौत और स्मार्त यज्ञों में जपरूप यज्ञ मैं हूँ और स्थावरों में (स्थिर रहने वालों में) मैं हिमालय हूँ।

(२) शंकरानन्द—'महर्षीणाम्' इत्यादि। गिराम् अर्थवाचक पद-समूह में मैं एकम् अक्षरम्—एकाक्षर प्रणव हूँ। स्थावराणां—स्थावर अर्थात् अचलों में अहं—मैं हिमालयः—हिमालय हूँ।

(३) नारायणी टीका—माया से सृष्ट पदार्थों में जो कुछ श्रेष्ठ वस्तु भगवान् के पास पहुँचाने में सहायक होते हैं अथवा जिनका भगवत् स्वरूप के साथ सादृश्य है उसमें भगवान का विशेष प्रकाश है, ऐसा समझना होगा। महर्षियों में भृगु (जो ब्रह्मा की कल्पना शक्ति से ब्रह्मा वक्ष से उत्पन्न हुआ था और जिसका पदचिह्न भगवान् स्वयं वक्ष में धारण करते हैं वह) श्रेष्ठ हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं महर्षियों में मैं भृगु हूँ। फिर वाक्यों में ॐकार हूँ क्योंकि वह एक अक्षर होने पर भी परब्रह्म का वाचक है एवं उसके अर्थ का अनुधावन (विचार) करने से चैतन्यस्वरूप पूर्ण ब्रह्म का ज्ञान होता है। यह ज्ञान ही संसारचक्र से मुक्तिलाभ करने का एकमात्र उपाय है। अतः वह पदविशिष्ट वाक्यों में श्रेष्ठ है एवं भगवान का स्वरूप ही है। किसी किसी श्रौत व स्मार्त यज्ञादि में पशुबलिका विधान रहने के कारण यज्ञकर्ता की हिंसादि दोष से युक्त होने की सम्भावना है किन्तु जपरूप यज्ञ में ऐसा नहीं है। द्वितीयतः अन्यान्य द्रव्यमय यज्ञों से इहलौकिक कार्य की सिद्धि अथवा स्वर्गादि की प्राप्ति होती है किन्तु जपयज्ञ में निरन्तर भगवान का चिन्तन रहने के कारण वह भगवत् स्वरूप के ज्ञान (तत्त्वज्ञान) की प्राप्ति में सहायक होता है। अतः यज्ञों में भगवान् जपयज्ञस्वरूप हैं। [भगवान् के कोई विशेष नाम का श्रद्धापूर्वक उच्चारण एवं उसके अर्थ की भावना करने को जप कहते हैं। प्रति जप का उच्चारण के साथ-साथ उसको भगवान में अर्पण करने से वह जपयज्ञ होता है।] स्थावर (अचल) जितनी वस्तुएँ हैं उनमें हिमालय का आयतन सबसे बृहत् है। और परब्रह्म भी स्थिर (अचल), शान्त, गम्भीर तथा सबसे बृहत् है। अतः हिमालय के साथ सादृश्य रहने के कारण भगवान् कहते है मैं अचल वस्तुओं में हिमालय हूँ।

[और सुनो—]

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणाञ्च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

अन्वय—(अहं) सर्ववृक्षाणाम् अश्वत्थः देवर्षीणां च नारदः गन्धर्वाणाम् चित्ररथः सिद्धानाम् च कपिलः मुनिः (अस्मि)।

अनुवाद—मैं समस्त वृक्षों में अश्वत्थ हूँ, देवर्षियों में मैं नारद हूँ, गन्धर्वों में मैं चित्ररथ हूँ एवं सिद्धों में मैं कपिल नामक मुनि हूँ।

भाष्यदीपिका—(अहं) सर्ववृक्षाणाम् अश्वत्थः—समस्त वृक्षों (एवं वनस्पतियों) में मैं अश्वत्थ वृक्ष हूँ। [सर्व शब्द के द्वारा वृक्ष के साथ वनस्पति समूह को भी ग्रहण किया गया है।]

देवर्षीणां च नारदः—देवता होकर मन्त्रदर्शी (मन्त्रों के द्रष्टा) होने के कारण ऋषि भाव को प्राप्त हुए हैं उन देवर्षियों में मैं नारद (ब्रह्म का पुत्र परमवैष्णव नारद) हूँ। गन्धर्वाणां चित्ररथः-(गाना ही जिनलोगों का धर्म है वैसे देवगायकों को गन्धर्व कहा जाता है)। उन गन्धर्वों में मैं चित्ररथ नामक गन्धर्व हूँ। सिद्धानां च कपिलः मुनिः (अस्मि)—[प्रयत्न के विना अर्थात् इहजन्म की चेष्टा के बिना जो लोग जन्मकाल से ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य की अतिशयता को प्राप्त हुए है [और परमार्थ तत्त्वको जान गये हैं (मधुसूदन)] उन लोगों को सिद्ध कहा जाता है।] इस प्रकार मैं कपिलः मुनि हूँ।

टिप्पणी—२७ श्लोक की टिप्पणी को देखो।

[और भी सुनो—]

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणाञ्च नराधिपम् ॥ २७ ॥

अन्वय-अश्वानां माम् अमृतोद्भवम् उच्चैःश्रवसं विद्धि, गजेन्द्राणाम् ऐरावतम् (विद्धि), नराणां च नराधिपम् (विद्धि)।

अनुवाद—अश्वों में मुझको अमृतोद्भव अर्थात् अमृतमन्थन के समय मथ्यमान समुद्र से उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रवा नामका अश्व (घोड़ा) जानो। गजराजों में मुझको अमृतमन्थन के समय उत्पन्न हुआ ऐरावत नाम का गजेन्द्र जानो और मनुष्यों में नराधिप अर्थात् नरपति (राजा) भी मुझे ही जानो।

भाष्यदीपिका—अश्वानां माम् अमृतोद्भवं उच्चैःश्रवसं विद्धि—घोड़ों में मुझको अमृतमन्थन के समय उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रवा नाम का अश्व (घोड़ा) जानो। अमृत के निमित्त देव-दानवों से जो समुद्रमन्थन हुआ था उससे उच्चैःश्रवा नामक अश्व आविर्भूत हुआ था। इस लिये उसको अमृतोद्भव

कहा जाता है। वह उच्चैःश्रवा नामक अश्व मैं ही हूँ अर्थात् अश्वों में वही मेरी श्रेष्ठ विभूति है। गजेन्द्राणाम् ऐरावतम् (विद्धि)—गजेन्द्रों में (गजराजों में) ऐरावत नाम का गज तुम मुझे जानो। इरावती के (पृथ्वी के) अपत्य को (सन्तान को) 'ऐरावत' कहा जाता है। वह भी अमृत के लिए जब समुद्र का मन्थन हुआ था तब आविर्भूत हुआ था। वह ऐरावत हाथी भी मैं हूँ अर्थात् वह श्वेतवर्ण इच्छा-गामी एवं इन्द्र का वाहन ऐरावत नाम का हाथी गजपतियों में मेरी एक श्रेष्ठ विभूति है। नराणाञ्च नराधिपम् (विद्धि)—नर अर्थात् मनुष्यों में मुझको तुम नराधिप (राजा) समझो अर्थात् मनुष्यों में राजा मेरी श्रेष्ठ विभूति है, (ऐसा जानो)। श्लोक में 'विद्धि' (जानो) यह पद सभी के साथ अनुसंग (युक्त) करना पड़ेगा।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—(२६ श्लोक) (समस्त वृक्षों में पीपल वृक्ष मैं हूँ।) देव होते हुए भी मन्त्रदर्शन से अर्थात् मन्त्र के द्रष्टा हो कर जो ऋषि भाव को प्राप्त हो गये हैं उनमें नारद मैं हूँ। (गन्धर्वों में चित्ररथ नामक गन्धर्व मैं हूँ) तथा जन्म से ही जिनको परमार्थ तत्त्व का ज्ञान हो गया है, ऐसे सिद्धों में कपिल नामक मुनि मैं हूँ।

(२७ श्लोक) घोड़े में, अमृत के लिये, क्षीर समुद्र के मन्थन के समय उत्पन्न हुए उच्चैःश्रवा नामक घोड़े को मेरी विभूति जानो। 'अमृतोद्भवम्' इस पद का ऐरावत से भी सम्बन्ध है। गजराजों में अमृत के लिए समुद्र मन्थन से उत्पन्न ऐरावत हस्ती मुझ को जानो और मनुष्यों में नराधिप (राजा) मुझको जानो।

(२) शंकरानन्द—दो श्लोकों का (२६–२७ श्लोकों का) अर्थ स्पष्ट है।

(३) नारायणी टीका—(२६–२७ श्लोक) सब वृक्षों में मैं अश्वत्थ, देवर्षियों में नारद तथा देवताओं के लिए गान गाने वाले गन्धर्वों में चित्ररथ तथा जन्म से ही स्वतः जो अतिशय धर्मज्ञान ऐश्वर्यादि प्राप्त हुए हैं तथा परमार्थ तत्त्व को जान लिये हैं इस प्रकार सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ।

अश्वों में समुद्रमन्थनकाल में उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रवा नामक अश्व श्रेष्ठ है और वह मेरी ही विभूति है। गजराजों में इन्द्र का हाथी ऐरावत मैं तथा मनुष्यों में नरपति (राजा) में मेरा विशेष प्रकाश है अतः उनको भी मेरा स्वरूप ही समझो। राजा में विशेषत्व यह है कि मैं जैसा युग-युग में अवतीर्ण

हो कर साधु की रक्षा एवं दुष्टों को दण्ड देता हूँ तथा अधर्म का निवारण एवं धर्म की रक्षा करता हूँ। राजा भी ऐसा ही करता है अतः राजा मेरी विभूति (विशेष प्रकाश) है।

[और भी सुनो]

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

अन्वय—अहम् आयुधानां वज्रम् (अस्मि) धेनूनाम् कामधुक् (अस्मि) प्रजनः कन्दर्पः च (अस्मि) सर्पाणाम् वासुकिः अस्मि।

अनुवाद—मैं अस्त्रों में वज्र हूँ, दुग्धवती गौओं में मैं कामधेनु हूँ, (कामों में) मैं प्रजन कन्दर्प हूँ [अर्थात् जो कन्दर्प (काम) धर्म के अनुसार पुत्रोत्पादन के लिए आवश्यक होता है वह मैं हूँ] सर्पों में मैं सर्पराज वासुकि हूँ।

भाष्यदीपिका—अहम् आयुधानां वज्रम्—मैं अस्त्रों में दधिची मुनिके अस्थियों से बना हुआ वज्र नामक अस्त्र हूँ। (इस वज्र के द्वारा ही इन्द्र ने वृत्रासुर नामक दानव का वध किया था) धेनूनां कामधुक् (अस्मि)—धेनु अर्थात् दुग्ध देने वाली गौओं में मैं कामधूक् (कामधेनु) हूँ। जो समस्त कामनाओं को दोहन (प्रदान) करती है उसे कामधूक् कहा जाता है। इस अर्थ में कामधुक् शब्द से समुद्र के मन्थन से उत्पन्न हुई कामधेनु जिसे वशिष्ठ ने प्राप्त किया था उस विशिष्ट कामधेनु को समझाया जा रहा है। वह मैं हूँ। अथवा सामान्य भाव से जो भी कामधेनु है वह मैं हूँ अर्थात् मुझको उस विशिष्ट अथवा साधारण कामधेनु के रूप से जानो क्योंकि गौओं में कामधेनु ही मेरी श्रेष्ठ विभूति है।

प्रजनः कन्दर्पः च अस्मि—मैं ही प्रजन अर्थात् प्रजनयिता (उत्पत्ति का हेतु) कन्दर्प अर्थात् कामदेव हूँ। धर्मार्थ पुत्रोत्पादन के निमित्त जो काम की आवश्यकता होती है उस कामको प्रजन (प्रजा अर्थात् सन्तान को उत्पन्न करने वाला कन्दर्प) कहा जाता है। वह मैं ही हूँ अर्थात् सभी प्रकार के कामों में वही मेरी श्रेष्ठ विभूति है। श्लोक में 'च' शब्द 'तु' अर्थ में (अन्यव्यावृत्ति अर्थ में अर्थात् अन्य समस्त कामों को निषेध करने के लिये) व्यवहृत हुआ है। अभिप्राय यह है कि केवल रति के लिए (स्त्रीसंग के लिये)

जो अशास्त्रीय, अपकृष्ट पशुवृत्ति रूप काम है उसको निषेध करने के उद्देश्य से 'च' शब्द 'तु' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'शास्त्रोक्त' नियम से पुत्रोत्पादन करने के लिए जो काम है वही भगवद्विभूति है किन्तु केवल रतिसुख के लिये जो काम है वह नहीं। सर्पाणां वासुकिः अस्मि—(सर्प तथा नाग के भेद से भुजंग के दो प्रकार होते हैं)। विभिन्न प्रकार के विषधर सर्पों में मैं सर्पराज वासुकि हूँ अर्थात् वासुकि ही सर्पों में मेरी श्रेष्ठ विभूति है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—आयुधानाम् इत्यादि—शस्त्रों में वज्र मैं हूँ। गौओं में इच्छित भोगरूप दुध देने वाली कामधुक् (कामधेनु) मैं हूँ। प्रजाको उत्पत्ति का हेतु काम भी मैं ही हूँ किन्तु केवल स्त्रीसम्भोग करने के लिये जो काम उत्पन्न होता है वह काम मेरी विभूति नहीं है क्योंकि वह अशास्त्रीय (शास्त्रविरुद्ध) है। सर्पों में अर्थात् विषयुक्त सर्पों में मैं सर्पों का राजा वासुकि हूँ।

(२) शंकरानन्द—'आयुधानाम्' इत्यादि। कामधुक्—कामधेनु प्रजनः—प्रजनन (उत्पत्ति) करने वाला कन्दर्पः—कन्दर्प अर्थात् काम मैं हूँ।

(३) नारायणी टीका—इन्द्र को वृत्रासुर का बध करने के लिए दधीचिमुनि से प्रार्थना करने पर दधीचिमुनि अपनी अस्थि को वज्र निर्माण करने के लिये प्रदान किये थे। उन अस्थिओं से (हड्डी से) निर्मित हुआ वज्र सब अस्त्रों में श्रेष्ठ है। भगवान् कहते हैं कि उस वज्र में मेरी ही विभूति होने के कारण वह मैं ही हूँ ऐसा जान लो। कामधेनु वशिष्ठमुनि की सम्पत्ति थी। वह धेनु (गाय) के पास जो कुछ कामना की जाती थी वही पूर्ण हो जाती थी एवं जिस समय दूध की आवश्यकता होती थी तत्क्षणात् प्रार्थित दूध उससे मिल जाता था। इसलिये वह एक विशिष्ट कामधेनु थी। साधारण कामधेनु भी इच्छित दूध प्रदान करती है। अतः कानधेनु (विशिष्ट हो कि साधारण हो) गौओं में श्रेष्ठ है। इसलिये भगवान् का ही रूप मानना चाहिए। काम के अधिपति देवता (कामदेव) को कन्दर्प कहते हैं। उनकी प्रेरणा विना अर्थात् काम उत्तेजित न होने से प्रजनन क्रिया (सन्तान की उत्पत्ति) नहीं होती है। अतः प्रजन (उत्पत्ति का हेतु) कन्दर्प (काम) भगवान् की विभूति तथा रूप है। किन्तु जो काम शास्त्रविहित सन्तान (पुत्रादि) की उत्पत्ति के लिये न होकर केवल स्त्रीदेह के सम्भोग के लिये प्रयुक्त होता है वह धर्मविरुद्ध होने के कारण भगवान् की विभूति तथा स्वरूप नहीं माना जाता है। इसे स्पष्ट करने लिये श्लोक में 'च' शब्द का 'तु' (किन्तु) अर्थ में [अर्थात् धर्मविरुद्ध काम का निषेध करने के लिये] प्रयोग किया गया है।

गीता में अन्यत्र भी कहा है—'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ' (गीता ७।११)। सर्प एक मस्तक वाले तथा विषयुक्त होते हैं। सर्प के राजा का नाम वासुकि है। भगवान् कहते हैं वह वासुकि मैं ही हूँ अर्थात् वासुकि मेरी विभूति (विशेष प्रकाश) है।

[और भी कहता हूँ सुनो—]

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ २९॥

अन्वय—नागानाम् च अनन्तः अस्मि यादसाम् अहम् वरुणः (अस्मि), पितृणाम् अर्यमा च अस्मि, अहम् संयमताम् यमः (अस्मि)।

अनुवाद—मैं नागों में अनन्त (शेष) नाग हूँ। मैं जलचर प्राणियों में वरुण हूँ, पितृगणों में मैं अर्यमा एवं संयमकारियों में अर्थात् धर्म तथा अधर्म का फल देकर निग्रह अथवा अनुग्रह करने वालों में मैं यम हूँ।

भाष्यदीपिका—नागानां च अनन्तः अस्मि—नागों के नाना भेदों में मैं अनन्त हूँ। निर्विष भुजंग (अथवा सरीसर्प) जाति विशेष को नाग कहा जाता है। उन नाग विशेषों में मैं (शेष नामक) 'अनन्त' नागराज हूँ। यादसाम् अहम् वरुणः (अस्मि) ['यादस्' शब्द का अर्थ जलदेवता है] [अथवा जलचरों में मैं उनका राजा वरुण हूँ (मधुसूदन)]। पितृणाम् अर्यमा च (अस्मि)—(अग्निष्वात्तादि) पितृगणों में मैं अर्यमा नामक पितृराज हूँ। अहं संयमतां यमः (अस्मि)—मैं संयमकारियों में (लोकनियन्ताओं में) यम अर्थात् धर्म तथा अधर्म का फलप्रदान कर निग्रह और अनुग्रह करनेवालों में मैं यम हूँ।

टिप्पणी (१) श्रीधर—अनन्तश्चास्मि इत्यादि—विषरहित नागों का राजा अनन्त (शेषनाग) मैं हूँ। यादस् अर्थात् जलचरों का राजा वरुण मैं हूँ। पितरों का राजा अर्यमा मैं हूँ। संयमन (नियम अर्थात् शासन) करनेवालों में मैं यम हूँ।

(२) शंकरानन्द—'अनन्त' इत्यादि। नागानाम्—नागों में अनन्तः—अनन्त अर्थात् शेषनाग मैं हूँ। यादसाम्—यादसों में अर्थात् जल देवताओं में वरुणः अहम्—मैं वरुण हूँ। संयमताम्—संयमन करनेवालों में अर्थात् दुष्टों का निग्रह करनेवालों में यमः अहम्—मैं यम हूँ॥ २९॥

(३) नारायणी टीका—भगवान् कहते हैं कि नागों में मैं अनन्त अर्थात् शेषनाग हूँ। पूर्व श्लोक में कहा है—सर्पों में मैं वासुकि हूँ। अब प्रश्न होगा—नाग और सर्पों में भेद क्या है ? उत्तर-(१) सर्प एक ही मस्तक वाले होते हैं किन्तु नाग के बहु मस्तक होते हैं (२) सभी सर्प विषयुक्त होते हैं किन्तु नागों के सम्बन्ध में यह नियम नहीं है। नाग प्रायशः निर्विष (विषहीन) होते हैं किन्तु कभी कभी (यथा तक्षक नाग) अत्यन्त विषयुक्त होते है (३) सूर्यों के राजा वासुकि और नाग के राजा अनन्त (शेषनाग) है। 'यादस' शब्द का अर्थ (क) जल देवता एवं (ख) जलचर जीव। वरुण जल देवताओं का तथा जलचरों का राजा है। अतः वह उनमें श्रेष्ठ होने के कारण भगवान् की विभूति तथा विशेष रूप है। शास्त्रों में पितरों का नाम इस प्रकार है–अग्निष्वात्ता, सौम्य, हविष्वन्त, उष्मपा, सुकालिन, बर्हिषद एवं आज्यपा। अर्यमा पितृगणों का (पितरों का) अधिपति है। वह अर्यमा मैं (भगवान्) हूँ अर्थात् उनमें मेरा विशेष प्रकाश है। कश्यप ऋषि तथा अदिति से सूर्य का जन्म हुआ। विश्वकर्मा की कन्या संज्ञा से सूर्य की एक कन्या (यमुना) एवं दो पुत्रों की (श्राद्धदेव तथा यमकी) उत्पत्ति हुई। जो भूतवर्गों को धर्मा-धर्म का फल प्रदान कर अनुग्रह तथा निग्रह करते है उसको 'संयमन' अर्थात् संयमन करने वाले कहते हैं। इस प्रकार संयमन करनेवालों में यम श्रेष्ठ है। यह यम मैं (भगवान्) हूँ अर्थात् उसमें मेरा विशेष प्रकाश है।

[और भी कहता हूँ सुनो—]

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

अन्वय—(अहं) दैत्यानां च प्रह्लादः अस्मि। अहम् कलयताम् कालः अस्मि। अहम् मृगाणाञ्च मृगेन्द्रः पक्षिणां वैनतेयः अस्मि।

अनुवाद—मैं दैत्यों में प्रह्लाद हूँ, गणनाकारियों में मैं कालरूप में अवस्थित हूँ पशुओं में मैं मृगेन्द्र (सिंह) हूँ एवं पक्षियों में मैं गरुड़।

भाष्यदीपिका—अहं दैत्यानां च प्रह्लादः—(मैं) दैत्यों में प्रह्लाद हूँ। कश्यपमुनि से उनकी स्त्री दिति के गर्भ से जो उत्पन्न हुए थे उनको दैत्य कहते हैं। उन दैत्यों में मैं प्रह्लाद [दैत्यों में हिरण्यकशिपु का तनय प्रह्लाद] हूँ अर्थात् परम भगवद्भक्त प्रह्लाद मेरी उत्कृष्ट विभूति है। परम

सात्त्विकगुण सम्पन्न होने के कारण भगवद्भक्ति के द्वारा वे सभी को प्रकृष्ट रूप से आह्लादित अर्थात् आनन्दित करते थे इसलिये उनको प्रह्लाद कहते थे अहं कलयतां कालः अस्मि—मैं कलनकारियों में अर्थात् संख्यागणन कार्यों में काल हूँ। काल को अवलम्बन कर ही संख्यागणन होता है। अतः गणना करनेवालों में काल ही भगवान की श्रेष्ठ विभूति है। अहं मृगाणाञ्च मृगेन्द्रः—वनचर सिंह हूँ अथवा व्याघ्र हूँ अर्थात् पशुओं में सिंह अथवा व्याघ्र ही मेरी श्रेष्ठ विभूति है। पक्षिणाञ्च वैनतेयः अस्मि—पक्षियों (पतत्रियों) में मैं वैनतेय अर्थात् विनता का पुत्र गरुड़ हूँ। समस्त पक्षिजाति विशेषों में गरुड़ ही मेरी श्रेष्ठ विभूति है।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—प्रह्लादश्चास्मीत्यादि—दैत्यों का राजा प्रह्लाद मैं हूँ। कलना (वश) करनेवालों में अथवा गणना करनेवालों में काल मैं हूँ। मृगों में (पशुओं में) मृग का राजा सिंह मैं हूँ, पक्षियां में विनता पुत्र गरुड़ मैं हूँ।

(२) शंकरानन्द—'प्रह्लाद' इत्यादि। कलयताम्—शुभ, अशुभ, वृद्धि एवं क्षय करने वालों के मध्य में अर्थात् गणन करने वालों में कालः अहम्—मैं काल हूँ।

(३) नारायणी टीका—दिति के पुत्रों को दैत्य कहते हैं अर्थात् द्वैत बुद्धि में प्रतिष्ठित हैं (विश्वप्रपञ्च में एक को दूसरे से पृथक् देखते हैं) वे दैत्य हैं। द्वैतबुद्धि से राग द्वेष उत्पन्न हो कर संसार में दुःख के हेतु होते है किन्तु दैत्यराज हिरण्य कश्यप का पुत्र अत्यन्त सात्त्विक गुण से सम्पन्न तथा भगवान का अनन्य भक्त होने के कारण वह सब को प्र (प्रकृष्ट रूप से अर्थात् पूर्णतया) आह्लादित (आनन्दित) करते थे इसलिए उसको प्रह्लाद कहते थे। दैत्यों में प्रह्लाद श्रेष्ठ थे अतः उनको भगवान् की विभूति तथा विशेष रूप मानना युक्तियुक्त ही है। दिवा, रात्रि पक्ष, मास, उत्तरायण, दक्षिणायन, वर्ष—वे सब काल की गणना है फिर देवताओं की भी उसी प्रकार काल गणना होती है। भूतों के आयु की भी काल का अवलम्बन कर गणना होती है एवं काल में ही सबकी समाप्ति होती है संख्या-गणन करने वालों में काल श्रेष्ठ है। भगवान् इस लिए कह रहे हैं कि, मैं वह काल हूँ अर्थात् काल में मेरा विशेष प्रकाश है। पशुओं में सिंह भी मैं हूँ क्योंकि पशुओं में सिंह सब से बलवान् है तथा वह पशुओं का राजा भी है। पक्षियों में विनता के पुत्र पक्षिराज गरुड़ में मेरा विशेष प्रकाश है क्योंकि वह केवल पक्षियों का राजा ही नहीं—

वह मेरा परम भक्त होने के कारण मैंने उसको अपने वाहनरूप में स्वीकार किया। अतः वह मेरा ही विशेष रूप (विभूति) है, ऐसा जानो।

[और भी सुनो—]

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ ३१॥

अन्वय—अहं पवतां पवनः अस्मि, अहं शस्त्रभृतां रामः (अस्मि), झषाणां च मकरः अस्मि, स्रोतसां जाह्नवी अस्मि।

अनुवाद—मैं पवित्र कारियों में पवन (वायु) हूँ शस्त्रधारियों में मैं राम हूँ, मत्स्यों में मैं मकर हूँ एवं नदियों में मैं गंगा हूँ।

भाष्यदीपिका—अहं पवतां पवनः (अस्मि)—मैं पवित्र करने वालों में पवन अर्थात् वायु हूँ (क्योंकि वायु द्वारा ही सभी वस्तु शीघ्र शुद्ध हो जाती है) अथवा 'पवताम्' शब्द का अर्थ है, 'वेगगामी पदार्थों में'। इस अर्थ में वाक्य का अर्थ होगा—वेग से चलने वाले पदार्थों में मैं वायु हूँ। अहं शस्त्रभृतां रामः (अस्मि)—(युद्धकुशल) शस्त्रधारियों में मैं दशरथ-पुत्र राम (अर्थात् समस्त राक्षसवंश विध्वंसकारी परमवीर दशरथनन्दन राम) हूँ। राम भगवान् का साक्षात् अवतार होने पर भी उपासना के लिये विभूयिों में वे उल्लिखित हुए हैं। झषाणां च मकरः अस्मि—झष शब्द का अर्थ है मत्स्यादि जलचर प्राणी। मत्स्यादि जलचर प्राणियों में मैं उन्हीं का एक जाति-विशेष मकर हूँ। स्रोतसां जाह्नवी अस्मि—स्रोतों में अर्थात् वेग से बहती हुई जलवाली नदियों में मैं श्रेष्ठ जाह्नवी (गंगा) हूँ।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—पवनः पवतामस्मि इत्यादि—पवित्र करने वालों में अथवा वेगवानों में वायु मैं हूँ। शस्त्रधारी वीरपुरुषों में दशरथपुत्र राम मैं हूँ अथवा जमदग्नि का पुत्र परशुराम मैं हूँ। झष अर्थात् मत्स्यों में मकर नामक मत्स्यविशेष मैं हूँ। स्रोतों में (बहते हुए जलों में) भागीरथी गंगा मैं हूँ।

(२) शंकरानन्द—'पवनः' इत्यादि। पवताम्—पवित्र करनेवालों में मैं पवनः—पवन अर्थात् वायु हूँ। शस्त्रभृताम्—शस्त्रधारियों में मैं रामः—राम अर्थात् दाशरथि हूँ। स्रोतसाम्-नदियों में मैं जाह्नवी-जाह्नवी (गंगा) हूँ।

(३) नारायणी टीका—जो दुर्गन्ध का नाश कर पवित्रता का सम्पादन करता है उसे 'पवन' कहते हैं अथवा जो बहुत वेगवान् (वेग से चलनेवाला) है उसे भी 'पवन' कहा जाता है। वायु सब पवित्र करनेवालों में अथवा वेग से चलनेवालों में श्रेष्ठ है। वह वायु मैं हूँ अर्थात् उसमें मेरा विशेष प्रकाश है। फिर युद्धकुशल शस्त्रधारियों में मैं दशरथपुत्र राम (अथवा) परशुराम हूँ। [प्रश्न होगा राम या परशुराम क्या तुम्हारी विभूति है ? उत्तर—नहीं, वे तो मेरी आत्मा है—केवल विभूति नहीं है। इस प्रकार आगे भी कहूँगा—'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' अर्थात् वृष्णिकुल में मैं वासुदेव हूँ। यद्यपि राम, परशुराम वासुदेव मेरा साक्षात् स्वरूप ही है तथापि उनके ध्यान का अवलम्बन कर जिससे मुमुक्षु चित्त की एकाग्रता सम्पादन कर सके इसके लिये उनका विभूतिरूप से वर्णन किया गया है।] मत्स्यों में जातिविशेष मकर नामक मत्स्य मैं हूँ अर्थात् मकर में मेरा विशेष प्रकाश है एवं इसलिये ही मेरे चरण से उत्पन्न हुई गंगा का वह वाहन हो सका। फिर मेरे चरण कमल से ही जाह्नवी (गंगा) की उत्पत्ति हुई अर्थात् मैं ही द्रविभूत होकर गंगा रूप से प्रवाहित हो रहा हूँ। इसलिये स्रोतों में (वेग से चलनेवाले जलराशि में) गंगा मैं ही हूँ। [पुराण से ज्ञात होता है कि जह्नु मुनि की कन्या होने के कारण इसे जाह्नवी, विष्णु के पैर के अंगूठे से उत्पन्न होने से इसे गंगा एवं सगरवंश का उद्धार के लिये भगीरथ कर्तृक हिमालय से समुद्र तक प्रवाहित होने के कारण इसे भागिरथी कहा जाता है।]

[पुनः—]

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यश्चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

अन्वय—हे अर्जुन ! अहम् एव सर्गाणाम् आदिः, अन्तः मध्यम् च; विद्यानाम् अध्यात्मविद्या (अहम्) प्रवदताम् च अहम् वादः ।

अनुवाद—हे अर्जुन ! सृष्ट आकाशादि पदार्थसमूह की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय मैं ही हूँ; विद्यासमूहों में मैं अध्यात्मविद्या (मोक्ष की हेतुभूत आत्मतत्त्वविद्या) हूँ एवं विवाद करनेवालों से सम्बन्धित कथा भेदों में मैं वाद हूँ ।

भाष्यदीपिका—हे अर्जुन !—तुम्हारी बुद्धि शुद्ध है अतः मैं ही जो सृष्टि का आदि, अन्त, मध्य हूँ इस तत्त्व का धारण करना तुम्हारे लिए कठिन नहीं होगा, यही यहाँ अर्जुन शब्द का तात्पर्य है। अहम् एव सर्गाणाम्

आदिः अन्तः मध्यं च—सर्गों में अर्थात् सृष्ट पदार्थसमूहों में मैं आदि, मध्य तथा अन्त हूँ अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयरूप हूँ। २० वें श्लोक में भी भगवान्‌ने कहा है 'अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च' अतः इस श्लोक में भी ऐसा कहने में शंका होगी कि इस प्रकार कहने में पुनरुक्ति दोष हुआ है किन्तु ऐसी बात नहीं क्योंकि २० वें श्लोक में भगवान् विशेषतः कहते हैं कि भूतों के अर्थात् जीव से आविष्ट एवं चेतनरूप से प्रसिद्ध प्राणियों का मैं आदि, मध्य तथा अन्त हूँ और यहाँ (३२ वें श्लोक में) सामान्याकार से कहा गया है कि 'मैं सृष्टिमात्र का (जगत्‌मात्र का) ही आदि, मध्य तथा अन्त हूँ'। अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है। विद्यानाम् अध्यात्मविद्या (अस्मि)—विद्याओं में मैं अध्यात्मविद्या अर्थात् आत्मतत्त्व विद्या हूँ। अन्तःकरण की आत्माकारा वृत्ति उत्पन्न कर अविद्या नाश कर मोक्ष का हेतु होती है, इसलिए अध्यात्मविद्या सभी विद्याओं में प्रधान (श्रेष्ठ) है अतः वह भगवान् की प्रधान विभूति है।

प्रवदतां च अहं वादः—विवाद करनेवालों में अर्थात् वावदूक विचार-पटु वाग्मी व्यक्तियों के विचार के समय में वाद, जल्प तथा वितण्डा—इन तीन प्रकार के जो वचन-भेद होते हैं उनमें पदार्थनिर्णय केवल वाद के द्वारा ही होता है। इस लिये मैं वादस्वरूप हूँ अर्थात् वाद, जल्प तथा वितण्डा इन तीन प्रकार के वचन-भेदों में वाद ही प्रधान है, इस लिए यही मेरी श्रेष्ठ विभूति है। ['प्रवदताम्' अर्थात् विवाद करने वालों से सम्बन्ध रखने वाले वाद, जल्प और वितण्डारूप कथाभेदों में मैं वाद हूँ (मधुसूदन)] यद्यपि 'प्रवदताम्' शब्द के द्वारा विचारपटु वक्ताओं को समझाया जाता है तब भी यहाँ वक्ताओं को द्वार कर उनका वदन (कथा) भेद अर्थात् वाद, जल्प तथा वितण्डा नामक वचन-भेदों को ग्रहण किया गया है। वाद किसे कहा जाता है? 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पंचावयवोत्पन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः' (न्याय दर्शन १। २) अर्थात् प्रमाण तथा तर्क के द्वारा स्वपक्ष साधन तथा प्रतिपक्ष का उपलम्भ (दोषोद्घाटन) पूर्वक प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन—इन (न्यायशास्त्र का) पाँच अवयवों से युक्त एवं सिद्धान्त से अविरुद्ध जो पक्ष तथा प्रतिपक्ष को ग्रहण करता है, उसका नाम है वाद। तात्पर्य यह है कि किसी पदार्थ का तत्त्व जानने में (जिज्ञासु) वीतराग व्यक्तियों में अथवा दो सतीर्थ ब्रह्मचारियों में अथवा गुरु तथा शिष्य में तत्त्वनिर्णय के उद्देश्य से तथा प्रतिपक्ष ग्रहण कर स्वपक्ष साधन तथा प्रतिपक्ष को दूषण किया जाता है उस का नाम है वाद। तत्त्वनिर्णय करना ही इस वाद की

सीमा है। वाद का फल है तत्त्वनिर्णय, उसकी रक्षा करने के लिये ही जल्प तथा वितण्डारूप दो प्रकार की बातें (विचारविशेष) होती हैं। इन जल्प तथा वितण्डा के फलस्वरूप एकपक्ष का जय एवं दूसरे पक्ष का पराजय मात्र होता है। न्यायदर्शन में कहा गया है—'यथोक्तोपपन्नच्छलजातिनिग्रहस्थान-साधनोपालम्भो जल्पः। स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा' अर्थात् जहाँ पक्ष प्रतिपक्ष में पञ्चावयवादि के साथ छल, जाति तथा निग्रहस्थान उद्भावन पूर्वक पर पक्ष का दोष दिखाकर स्वपक्ष स्थापन किया जाता है उसका नाम जल्प है। वह जल्प ही यदि अपने पक्ष की स्थापना से रहित हो अर्थात् यदि कोई तर्क में स्वपक्ष की स्थापना करने का प्रयत्न न रहे किन्तु छल, जाति, निग्रहस्थान द्वारा केवल परपक्ष के हेतु दूषित करते रहे तब उस विचार को वितण्डा कहा जाता है। अतः वाद के द्वारा तत्त्वनिरूपण होता है किन्तु जल्प तथा वितण्डा के द्वारा वह नहीं होता है, इस कारण बातों (विचारों) के भेदों में वाद ही श्रेष्ठ है।

[अन्य अभिप्राय से प्रयोग किये हुए वाक्य का कोई और अर्थ कल्पना करके उसमें दोष दिखाना 'छल' है। जिसका अपने पास भी कोई उत्तर न हो ऐसी बात पूछना 'जाति' है। वादी के पराजय का कारण 'निग्रहस्थान' कहलाता है]।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—सर्गाणामादिरन्त इत्यादि—जिनकी सृष्टि हो वह सर्ग है। यथा आकाशादि। उस सृष्टि का आदि, अन्त और मध्य मैं हूँ। "अहमादिश्च मध्यं च" (गीता १०।२०) इस श्लोक में तो सृष्टि आदि में अपने कर्तृत्व का वर्णन कर अपना परम ऐश्वर्य प्रकट किये हैं किन्तु यहाँ (वर्तमान श्लोक में) स्थिति और प्रलयों को अपनी विभूति के रूप में ध्येय बताते हैं—यही विशेषता (भेद) है। अध्यात्मविद्या विद्यानाम्—विद्याओं में अध्यात्मविद्या अर्थात् आत्मविद्या मैं हूँ। प्रवदताम् अहं वादः—प्रवचन करने वाले वादियों के जो वाद, जल्प और वितण्डा नामक तीन प्रकार के कथन प्रसिद्ध हैं उनमें वाद मैं हूँ। जिसमें दोनों वक्ताओं द्वारा ही प्रमाण से और तर्क से अपना पक्ष स्थापित किया जाता है एवं दूसरे के पक्ष को छल, जाति और निग्रह स्थानों के द्वारा दूषित किया जाता है उसका नाम जल्प है। जिस में एक तो अपने पक्ष की स्थापना करता है और दूसरा छल, जाति एवं निग्रह स्थानों द्वारा विपक्ष को दूषित करता है किन्तु अपने पक्ष को सिद्ध नहीं करता वह वितण्डा है। उनमें जल्प और वितण्डा—इन दोनों का फल होता है वादियों की बुद्धिशक्ति की परीक्षामात्र। किन्तु दो वीतराग पुरुषों का (शिष्य

और आचार्य का अथवा अन्य दो व्यक्तियों का) वाद से तत्त्व का निर्णयरूप फल प्रकट होता है अर्थात् तत्त्वनिर्णय होता है। अतः वाद श्रेष्ठ होने के कारण वह भी विभूति है।

शंकरानन्द—आदित्य आदि सामान्य विभूतिसमूह का एवं विष्णु आदि विशेष विभूतिसमूह अपना ही स्वरूप है, यह सूचित करने के लिए सम्पूर्ण विकारसमूह का आदि, मध्य एवं अन्त सर्वात्मा परिपूर्ण स्वरूप मैं ही हूँ, इसप्रकार कहते हैं। जो महत् से लेकर स्थूल तक विकार पदार्थ उत्पन्न किये जाते हैं वे सर्ग हैं। **सर्गाणाम्**—उन सर्गों का आदिः—आदि (उपादान-कारण) मैं ही हूँ, जिस प्रकार घट, करक आदि का उपादान कारण मृत्तिका (मिट्टी) ही है। मुझ से ही समस्त कुछ उत्पन्न होता है यही अर्थ है, क्योंकि 'तस्मात्सर्वमभवत्' (उससे ही सब कुछ उत्पन्न हुआ') ऐसी श्रुति है। यदि शंका हो कि विकारसमूह के कारण के रूप में पहले तुम्हारा सद्भाव होने पर भी कार्यदशा में तुम्हारी सत्ता देखने में नहीं आती है, इसलिए तुम्हारी सर्वात्मता एवं पूर्णता सम्भव नहीं है, तो इसके सम्बन्ध में कह रहे हैं—'मध्यं चैव इत्यादि—मृत्तिका के (मिट्टी के) धर्मभूत गन्धवत्त्व आदि देखने से मृत्तिका के कार्य घट आदि में केवल मृत्तिका का ही समन्वय है, इसलिए जिसप्रकार घट आदि समस्त मृत्तिका ही है, उसी प्रकार सत्ता, स्फूर्ति आदि मेरे धर्मों के देखने से महद् आदि में मेरा ही समन्वय है यह सिद्ध होता है। इसलिए सब कुछ मैं ही हूँ। चूँकि ऐसा होता है इस कारण प्रपंच का मध्य मैं ही हूँ (अर्थात् विकार के रूप में मैं ही स्थित हूँ) यह सिद्ध हुआ। विकारस्वरूप से स्थित होने के कारण विकार का नाश होने पर तुम्हारा भी नाश का प्रसंग आयेगा, ऐसी अवस्था में तुम्हारी सत्ता का अभाव होने पर तुम में अनित्यत्व, असर्वात्मत्व एवं अपूर्णत्व हो जायगा ? ऐसी आशंका के उत्तर में कह रहे हैं—कार्य का अदर्शनरूप जो अन्त है, वह भी मैं ही हूँ। जिसप्रकार घट का नाश होने पर उसका कारण तथा उसमें अनुवृत्त मृत्तिका का नाश न होने से कपाल तथा उसके चूर्ण आदि में अनुवृत्त मृत्तिका की सत्ता है ही, उसी प्रकार महदादि सम्पूर्ण विकारसमूहों का नाश होने पर भी उसकी कारणभूत तथा उसमें अनुवृत्त मेरी सत्ता का नाश न होने से मेरा सद्भाव, नित्यत्व, सर्वात्मत्व एवं पूर्णात्मत्व है ही। जिस कारण से विकारसमूह का आदि, अन्त एवं मध्य मैं ही हूँ, क्योंकि मुझसे अतिरिक्त वस्तु का प्रमाणद्वारा निरूपण नहीं किया जा सकता है, इसलिए आदित्य आदि सामान्य विभूतियाँ एवं विष्णु आदि विशेष विभूतियाँ सब कुछ मैं ही हूँ,

यह सिद्ध हुआ। अथवा, 'सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्। स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥' ('एक वे जनार्दन भगवान् ही सृष्टि, स्थिति तथा अन्तकारी ब्रह्मा, विष्णु, शिवस्वरूप संज्ञा को प्राप्त होते हैं')' इस वचन के द्वारा जो उत्पन्न किया जाता है, यह सर्ग अर्थात् प्राणी हे। उनका आदिः—आदि अर्थात् सृष्टि कारण ब्रह्मा, मैं ही हूँ, अन्तः च—एवं अन्त (जो अन्त करता है, वह अन्त है) अर्थात् संहारकर्ता शिव भी मैं हूँ। मध्यम् एव च--'मध्य' शब्द से यहाँ सृष्टि तथा संहारकर्ता के मध्यवर्ती स्थितिकर्ता विष्णु को सूचित किया गया है। वह विष्णु मैं ही हूँ, यही अर्थ है। विद्या अर्थात् ज्ञान का हेतु समस्त वेद एवं शास्त्र, उनमें मोक्ष का हेतु होने के कारण अध्यात्मविद्या--अध्यात्मविद्या (उपनिषद्) मैं ही हूँ। प्रवदताम्—विवादकारियों में अर्थात् जो वाद, जल्प और वितण्डा को अवलम्बन कर विवाद में प्रवृत्त हुए हैं उनमें अर्थनिर्णय का हेतु होने के कारण वादः--वाद श्रेष्ठ है अतः वह अहम्--मैं हूँ, यह अर्थ है।

['प्रवदत् शब्द के द्वारा वाद, जल्प, वितण्डा आदि लक्षित हुए हैं]।

(३) नारायणी टीका--फिर आकाशादि जड़ पदार्थों की, सृष्टि का मैं ही आदि (उत्पत्ति), मध्य (स्थिति) एवं अन्त (लय) हूँ, पहले मैंने कहा 'अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च (गीता १०।२०) किन्तु उससे चेतन अर्थात् जीवभावयुक्त भूतसमूहों की सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त मैं हूँ, ऐसा कहा था। अतः इसमें मुझे द्विरुक्ति-दोष नहीं हुआ। विद्याओं में अध्यात्मविद्या मैं हूँ अर्थात् परमकल्याण की साधनभूता (मोक्ष का हेतु) तथा अज्ञान का नाश करनेवाली आत्मतत्त्वविद्या मैं हूँ अर्थात् अध्यात्मतत्त्व का अनुसन्धान करना और भगवान् का साक्षात् सेवन करना एकही बात है। जो लोग विवाद करने में प्रवृत्त हुए हैं उनसे सम्बन्धित कथाभेदों में वाद मैं हूँ। विवाद (तर्क) तीन प्रकार का है--जल्प, वितण्डा और वाद। यदि कोई पण्डित केवल अपने ही पक्ष में श्रुति आदि का प्रमाण देकर युक्तियों के सहित अपने पक्ष को सिद्ध करे तो उनके तर्क को 'जल्प' कहते हैं। और यदि कोई दूसरे पक्ष में केवल दोष ही निकाले—अपने पक्ष के दोषों का स्मरण न करे तब उसप्रकार के तर्क को वितण्डा कहते हैं। किन्तु यदि कोई अपने और दूसरे अर्थात् दोनों पक्षों को युक्ति और प्रमाणों से विचार कर यथार्थ अर्थ का प्रतिपादन करे तो उसप्रकार के तर्क को वाद कहते हैं। वाद परमार्थतत्त्व का निर्णय करने के लिए होता है एवं उसका फल है परमानन्दस्वरूप मेरी प्राप्ति। इसलिए वाद मेरा (भगवान्) का स्वरूप ही

है। जल्प और वितण्डा वृथा तर्क है क्योंकि वे झूठी बात को सिद्ध करते हैं और उन दोनों का परिणाम होता है दुःख! क्योंकि किसी अधिकतर विद्वान् से जल्प तथा वितण्डा करनेवाले का पराजय अवश्य होगा।

[पुनः—]

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥ ३३॥

अन्वय—अहम् अक्षराणाम् अकारः अस्मि; सामासिकस्य द्वन्द्वः अस्मि; अहम् एव अक्षयः कालः; अहम् विश्वतोमुखः धाता अस्मि।

अनुवाद—मैं अक्षरों में अकार हूँ, समासों में द्वन्द्वसमास हूँ, (मास-संवत्सरादि क्षयशील) कालों में मैं ही अक्षय (अविनाशी) काल हूँ और मैं ही विश्वतोमुख (सर्वतोमुख) धाता हूँ अर्थात् समस्त जगत्वासियों को कर्मफल देनेवाला हूँ।

भाष्यदीपिका—(अहम्) अक्षराणाम् अकारः अस्मि—अक्षरों में (वर्णों में) अकार (अवर्ण) मैं हूँ। 'अकारो वै सर्वा वाक्' (अकार ही सम्पूर्ण वाणी है अर्थात् अकार के विना कोई भी वाणी का उच्चारण नहीं हो सकता। 'सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवतीति' (ऐतरेय० उप० २।३।६) अर्थात् वह अकाररूप वर्ण ही स्पर्श, उष्म आदि से (कण्ठ, तालु आदि से) पृथक् पृथक् स्थानों में अभिघात प्राप्त होकर बहुत प्रकार से नाना रूपवाली वाणीरूप में प्रकट होता है। इस प्रकार श्रुति के वाक्य से समस्त वर्णों में अवर्ण का ही श्रेष्ठत्व प्रतिपादन किया गया है। सामासिकस्य द्वन्द्वः अस्मि—समाससमूह में मैं दोनों पदों के अर्थ की प्रधानतावाला द्वन्द्व-समास हूँ। अव्ययीभाव समास में पूर्वपद के अर्थ की प्रधानता रहती है, तत्पुरुष में परपद के अर्थ की प्रधानता और बहुव्रीहि में अन्यपद के अर्थ की प्रधानता रहती है। अतः उनमें दोनों पदों की समानता (प्राधान्य) न होने से वे निकृष्ट हैं किन्तु द्वन्द्वसमास में समस्यमान सभी पदों के अर्थ को समान-रूप से प्रधानता रहने के कारण वह समासों में श्रेष्ठ है। इस कारण से वह मैं हूँ अर्थात् उसमें मेरा विशेष प्रकाश है। अहम् एव अक्षयः कालः—जो क्षण घड़ी आदि नामों से प्रसिद्ध है वह काल (समय) मैं हूँ अथवा क्षयशील काल का भी जो अक्षय (अविनाशी) काल परमेश्वर है वह मैं हूँ। श्रुति में कहा है—'ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः' अर्थात् जो ज्ञ (शुद्धचैतन्यस्वरूप),

गुणी (माया से युक्त होकर गुणविशिष्ट) अतः सर्ववित् (सब कुछ जानने वाला है) वह परमेश्वर काल का भी काल है अर्थात् अक्षय काल है। इस श्रुति के वचनानुसार भगवान् कहते हैं कि वह अक्षयकाल मैं ही हूँ। पूर्ववर्ती ३० वें श्लोक में कहा है— 'कालः कलयतामहम्'। वहाँ क्षयशील काल अर्थात् जो क्षणादि काल से जीवन के परिमाण की संख्या का ग न किया जाता है उसे साधारण काल कहा गया है और यहाँ काल को अक्षय कहा है। अतः दोनों में भेद है। अहं विश्वतोमुखः धाता अस्मि—मैं ही विधाता अर्थात् सब जगत् के कर्मफल का विधान करनेवाला तथा विश्वतोमुख (सब ओर मुखवाला) परमात्मा हूँ। [अथवा कर्मफल का विधान करनेवालों में मैं विश्वतोमुख (सब ओर मुखवाला) धाता हूँ अर्थात् समस्त जगत् के सब प्रकार के कर्मफल को देनेवाला ईश्वर मैं हूँ (मधुसूदन)।]

टिप्पणी। (-१) श्रीधर—अक्षराणाम् इत्यादि-अक्षरों में (वर्णों में) मैं अकार ('अ'वर्ण) हूँ क्योंकि सर्ववाङ्मय होने के कारण वह श्रेष्ठ है। श्रुति भी कहती है—'अकारो वै सर्वावाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति' (ऐतरेय उप० २।३।६) अर्थात् निःसन्देह अकार ही समस्त वाणी है क्योंकि वही यह स्पर्श और उष्मा द्वारा उच्चारित होकर बहुत प्रकार से नानारूपवाली वाणी होता है। अहं सामासिकस्य च द्वन्द्वः—सामासिक में (समास समूह में) द्वन्द्व अर्थात् 'रामकृष्णौ' इत्यादिरूप समास मैं हूँ। द्वन्द्वसमास में पूर्व और पर दोनों पदों की प्रधानता रहने के कारण वह श्रेष्ठ है। अहम् एव अक्षयः कालः—अक्षय अर्थात् प्रवाहरूप अविनाशी काल मैं ही हूँ। ३० वें श्लोक में 'कालः कलयताम्' द्वारा आयु की गणनामय संवत्सर सौ वर्ष आदि आयुस्वरूप जो काल कहा गया वह तो उस आयु का क्षय हो जानेपर क्षीण हो जाता है किन्तु, यहाँ प्रवाहरूप अक्षयकाल कहा गया है, यह इसकी विशेषता है। अहं विश्वतोमुखः धाता अस्मि—कर्मफल का विधान करनेवालों में सब ओर मुखवाला विधाता अर्थात् समस्त कर्मों के फल का विधान करनेवाला मैं हूँ।

(२) शंकरानन्द—वर्णों में मैं अकार हूँ। सामासिक में (समास समूह में) मै द्वन्द्वसमास हूँ। विश्वतोमुख धाता (कर्मफल प्रदाता) मैं ही हूँ। शेष स्पष्ट है।

(३) नारायणी टीका—वर्णों में अकार ('अ' वर्ण) मैं हूँ क्योंकि (१) अकार सब वर्णों का आदि (प्रथम) वर्ण है (२) कोई भी व्यञ्जन

वर्ण अकार के विना उच्चारित नहीं हो सकता। व्यञ्जनवर्ण के विना वाक्य का प्रकाश नहीं होता है। अतः प्रत्येक वाक्य में अकार व्याप्त है। (३) अव्यक्त ब्रह्म नादब्रह्मरूप में व्यक्त होता है और नादब्रह्म ही स्थूलरूप से जगदाकार में प्रकट होता है। ॐकार हो नादब्रह्म है और उसका पहला वर्ण अकार है एवं उस 'अ'कार का विकार ही समस्त वर्ण है। अतः अकार को ब्रह्मस्वरूप माना जाता है। इसलिये श्रुति में भी 'अकारः वै सर्वा वाक्' ('अ'कार ही सब वाणी)। इत्यादि वचन द्वारा 'अ'कार का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन किया है। अतः 'अ'कार में भगवान् का प्रकाश अधिक होने के कारण ('अ'कार भगवान की विभूति होने के कारण) "वह 'अ'कार मैं हूँ" ऐसा भगवान ने कहा।

द्वन्द्वसमास में उभय पद की प्रधानता रहने के कारण सामासिक में (समास समूह में) द्वन्द्वसमास श्रेष्ठ है [जैसा रामश्च कृष्णश्च=रामकृष्णौ, यहाँ राम तथा कृष्ण उभयपद ही समानभाव से प्रधान है किन्तु अव्ययीभाव समास में पूर्वपद, तत्पुरुष समास में उत्तरपद (परवर्ती पद) एवं बहुव्रीहि समास में अन्यपद प्रधान रहता है। अतः वे सब निकृष्ट है।] समासों में द्वन्द्वसमास श्रेष्ठ होने के कारण उसमें भगवान् का प्रकाश अधिक है। इसलिये भगवान कहते हैं कि वह द्वन्द्वसमास मैं ही हूँ।

काल दो प्रकार का होता है—(१) क्षयकाल तथा (२) अक्षयकाल। पल, घड़ी, दिन, रात, वर्ष, युग इत्यादि (जिससे आयु की गणना होती है) क्षयकाल है क्योंकि इनका आदि और अन्त है। इस प्रकार क्षयशील काल को ही ३० वें श्लोक में 'कालः कलयताम्' कहा गया है। यहाँ 'अक्षयकाल' पद से काल को जाननेवाला (कालज्ञ) भगवान को (परमेश्वर को) अर्थात् महाकाल को सूचित कर रहा है। इसलिये भगवान् कहते हैं वह अक्षयकाल अर्थात् अविनाशी कालज्ञ ईश्वर अथवा काल का भी नाश करनेवाला अक्षय काल (महाकालरूपी परमेश्वर) मैं ही हूँ। अज्ञानीलोग भिन्न भिन्न देवता आदि की उपासना कर उन उन देवताओं से फल की कामना करते हैं किन्तु कर्मफल दातारूप से एकमात्र भगवान् ही उन-उन देवता आदि की मूर्ति में विद्यमान हैं, यह वे जानते नहीं हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं—"कर्मफल-दाताओं में मैं विश्वतोमुख (सब ओर मुखवाला) धाता (विधाता) हूँ अर्थात् सर्व प्रकार से, एवं जगत् के सभी को कर्म के फल देनेवाला एकमात्र मैं ही हूँ"। अथवा परमेश्वर ही माया के योग से असंख्यजीव के रूप से प्रतिभात हुए हैं अतः परमात्मा की सत्ता सर्वत्र असंख्य जीवरूप में विद्यमान रहने के

कारण वह विश्वतोमुख है। उनमें प्रत्येक जीव अपने अपने कर्म का फल भोगता है। अतः जीवरूप में परमात्मा ही कर्मफल के विधाता है। 'विश्वतोमुख' शब्द से यही सूचित किया गया है कि भोक्ता जीव, भोग्य विषय एवं कर्मफल वे तीनों भगवान हीं हैं, अतः कर्मफल से जो भोग होता है उन कर्मफल का विधाता (कर्मफल प्रदान करनेवाला) भी एकमात्र भगवान् ही है।

[पुनः—]

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

अन्वय—अहम् सर्वहरः मृत्युः। भविष्यताम् च उद्भवः। नारीणाम् कीर्तिः, श्रीः, वाक्, स्मृतिः, मेधा, धृतिः, क्षमा च।

अनुवाद—मै सर्वहर (सबका संहार करनेवाला) मृत्यु हूँ। भावी कल्याणों में [अर्थात् उन लोगों ने भविष्य में कल्याण की प्राप्ति में योग्यता (अधिकार) प्राप्त किया उनमें] उनमें मैं उद्भव (उत्कर्ष या उन्नति हूँ। स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाणी (मधुरवाणी) स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा–ये सात धर्म की पत्नियाँ मैं ही हूँ।

भाष्यदीपिका—अहं सर्वहरः मृत्युः—सर्वहर (सबका हरणकारी अर्थात् नाश करनेवाला) मृत्यु दो प्रकार की होती है—(१) धनादि का नाश करनेवाली एवं (२) प्राणों का नाश करनेवाली। वह सर्वहर मृत्यु मैं हूँ। अथवा परम ईश्वर, प्रलयकाल में सबका नाश कर देता है, अतः वह 'सर्वहर' कहलाता है। वह मैं हूँ। भविष्यतां च उद्भवः—भविष्यत् में जिनका कल्याण होनेवाला है अर्थात् जो उत्कर्षता–प्राप्ति के योग्य है, उनका उद्भव (उत्कर्ष या उन्नति) तथा उसकी प्राप्ति का कारण भी मैं हूँ। उत्कर्ष (वृद्धि) के बिना कोई मनुष्य कल्याण को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः कल्याण की प्राप्ति के लिये उद्भव (उत्कर्ष या वृद्धि) ही श्रेष्ठ वस्तु है। वह उद्भव मैं ही हूँ अर्थात् वह मेरी विशेष विभूति है। नारीणां कीर्तिः, श्रीः, वाक्, स्मृतिः, मेधा, धृतिः क्षमा च–कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा (बुद्धि), धृति (धैर्य) और क्षमा—ये स्त्रियों में उत्तम गुण है, जिनके आभासमात्र-सम्बन्ध से भी लोग अपने को कृतार्थ मानते हैं। वे मैं हूँ। [नारियों में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा जो धर्म की पत्नियाँ हैं वे मैं ही हूँ। 'वे धार्मिक हैं' इस प्रकार इनमें धार्मिकत्व के कारण प्रशंसारूप से जो विभिन्न

दिशा और देशों के लोगों के ज्ञान में ख्याति का प्रकाश होता है, उसे 'कीर्ति' कहते हैं। धर्म, अर्थ और काम की पूर्ति, शरीर की शोभा अथवा कान्ति का नाम 'श्री' है। वाक् शब्द का अर्थ सरस्वती है अर्थात् सब प्रकार के अर्थ को प्रकाशित करनेवाली संस्कृत (शुद्ध) वाणी को 'वाक्' कहते हैं यहाँ 'च' शब्द से मूर्ति आदि धर्म की अन्य पत्नियों को भी ग्रहण किया गया है। चिरकाल के (वहु पूर्व मे) अनुभव किये हुए अर्थ का स्मरण करने की शक्ति का नाम 'स्मृति' है। अनेकों ग्रन्थों के तत्पर्य को धारण करने की शक्ति 'मेधा' है। परिश्रान्त होनेपर भी शरीर और इन्द्रियसमूह को उठाये रखने की शक्ति धृति है अथवा उच्छृङ्खल प्रवृत्ति के कारण चपलता की प्राप्ति होनेपर उसे निवृत्त करने की शक्ति का नाम धृति है। हर्ष और विषाद के समय निर्विकारचित्त रहना क्षमा है। कीर्ति आदि के आभासमात्र का सम्बन्ध होनेपर भी मनुष्यमात्र ही समस्त लोकों में आदरणीय होता है, किन्तु इनका (कीर्ति, श्रीर्वाक् इत्यादि का) समस्त स्त्रियों में उत्तमत्व अत्यन्त प्रसिद्ध ही है। (मधुसूदन)]

टिप्पणी। (१) श्रीधर—मृत्युः सर्वहरश्च इत्यादि—संहार करने वालों में सबका हरण करनेवाली मृत्यु मैं हूँ। भविष्य में जो लोग कल्याण प्राप्त करने के लिये योग्यता (अधिकार) प्राप्त किये हैं उन मनुष्यों का अभ्युदय (वृद्धि) मैं हूँ। कीर्तिः श्रीर्वाक् इत्यादि—स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा—ये सात देवतारूपिणी स्त्रियाँ मेरी विभूति हैं जिनके अभ्यासमात्र संयोग से ही प्राणी प्रशंसनीय हो जाते हैं।

(२) शंकरानन्द—'मृत्युः' इत्यादि। जो सबको हरण करता है वह सर्वहरः—सर्वहर है। वह सर्वहर मृत्यु मैं ही हूँ। भविष्यताम्—भविष्यतों में अर्थात् भावी पदार्थसमूहों में उद्भवः—(अभ्युदय अर्थात् उत्कर्ष या वृद्धि) मैं हूँ। नारीणां—नारियों में कीर्तिः—कीर्ति से लेकर क्षमा—क्षमा तक देवीरूपिणी स्त्रियाँ मैं ही हूँ।

(३) नारायणी टीका—श्रुति में कहा है 'जीवो जीवस्य जीवनम्', 'अन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्' (एक दूसरे का अन्न है)। अतः एक दूसरे की मृत्यु का कारण होता है (अर्थात् एक दूसरे को हरण कर लेता है)। किन्तु भगवान् जिस प्रकार भूतवर्ग की सृष्टि का कारण है वैसा ही प्रलय का भी कारण होने से सब संहारकारियों की मृत्यु का कारण होता है अतः वह सर्वहर (सबको हरण करनेवाला) मृत्यु है। अथवा जन्म लेने से मृत्यु अवश्यम्भावी है किन्तु मृत्यु होने के पश्चात् जन्म होगा ऐसा कोई निश्चय नहीं है क्योंकि जीविता-

वस्था में यदि कोई सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा को अभिन्नरूप से साक्षात् अनुभव कर सके तो उन महात्मा का फिर जन्म नहीं होता (अर्थात् उनका सर्व कर्मों के फल तथा संसारगति भगवान् स्वयं हरण कर लेते हैं। इसलिए उन ब्रह्मविद् की मृत्यु को सर्वहर कहा जाता है। भगवान् की प्राप्ति से ही इस प्रकार की मृत्यु होती है। अतः भगवान् ही वह सर्वहर मृत्यु है। उस प्रकार मृत्यु सब प्रकार की मृत्यु में परमपुरुषार्थ (मोक्ष) की सिद्धि कारण प्रधान हेतु होने के कारण श्रेष्ठ है। अतः वह भगवान् की विभूति है—भगवान् का ही विशेष रूप है, यह कहने का अभिप्राय है। भविष्यत् में जिस व्यक्ति ने कल्याण (मोक्ष) प्राप्ति करने की योग्यता प्राप्त किया है उसके उद्भवः (उत्तरोत्तर अभ्युदय अर्थात् वृद्धि) मैं ही हूँ। जिस प्रकार आकाश के जल से भरा हुआ बादल घन बन समूह द्वारा आकृष्ट होकर उधर ही वर्षा प्रदान करते हैं उसी प्रकार उद्भव (वृद्धि) रूप से भगवान् की कृपा उनके पर ही वर्षित होती है जो पहले ही भविष्यत् के लिए कल्याण (जागतिक अथवा पारलौकिक कल्याण) प्राप्ति के लिये योग्यता प्राप्त किये हैं। कीर्ति (धार्मिक नानादिशा में विस्तारित ख्याति), श्री (धर्म, अर्थ, कामरूप सम्पत्ति से परितृप्ति लाभ करने पर शरीर की शोभा), वाक् (सब अर्थ की प्रकाशिका संस्कृतवाणी अथवा भगवत् तत्त्व को प्रकाश करनेवाली वाणी), स्मृति (पूर्व अनुभूत विषय का स्मरण करने की शक्ति अथवा जो आत्मतत्त्व विस्मृत हुआ है उसका स्मरण) मेधा (आत्मतत्त्व के अनुभवजनित प्रज्ञा), धृति (सात्त्विक धैर्य अथवा आत्मसाक्षात्कार जनित प्रज्ञा की निरन्तर धारणा करने की शक्ति), क्षमा (सर्वत्र ब्रह्मरूप आत्मा के दर्शन करने के पश्चात् किसी के गुणदोष से चित्त की हर्ष विषादजनित विकारता का अभाव) ये सब प्रकृति का विकार होने के कारण नारियाँ (मायाशक्ति) हैं किन्तु भगवत्स्वरूप की प्रकाशिका होने के कारण वे भगवान् की श्रेष्ठ विभूतियाँ हैं। इसलिए भगवान् कहते हैं नारियों में मैं कीर्ति, श्री इत्यादि सात धर्म की पत्नियाँ हूँ।

[पुनः—]

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

अन्वय—तथा साम्नाम् बृहत्साम (अस्मि), अहम् छन्दसाम् गायत्री अस्मि, अहम् मासानाम् मार्गशीर्षः (अस्मि), ऋतूनाम् कुसुमाकरः (अस्मि)

अनुवाद—फिर सामों में मैं बृहत्साम हूँ, छन्दों में मैं गायत्री हूँ महीनों में मैं मार्गशीर्ष (अग्रहायण मास) हूँ और ऋतुओं में मैं वसन्त हूँ।

भाष्यदीपिका–तथा साम्नां बृहत् साम (अस्मि)—[पहले कहा गया कि वेदों में मैं सामवेद हूँ (गीता १०।२२)। उस सामवेद में दूसरी विशेषता अब वर्णित हो रही है।] सामों में जो सब ऋचाएँ गान करने के योग्य है उन ऋचाओं में जो 'त्वामिद्धि हवामहे' इस ऋचा में आरुढ़ गीतिविशेष है वह बृहत्साम है। वह अतिरात्रयज्ञ में सर्वेश्वर इन्द्र की (परमात्मा की) पृष्ठस्तोत्ररूप से (स्तुति विशेषरूप से) गीत करने के कारण अन्य ऋचाओं से वह) श्रेष्ठ है। अतः भगवान् कहते हैं सामवेद के प्रकरणोंमें जो बृहत्साम नामक प्रधान प्रकरण है वह मैं हूँ। अर्थात् बृहत्साम ही मेरी श्रेष्ठ विभूति है)।

अहं छन्दसां गायत्री (अस्मि)—छन्दों में मैं गायत्री छन्द हूँ अर्थात् जो गायत्री आदि छन्दोबद्ध ऋचाएँ हैं उनमें गायत्री नामक ऋचा श्रेष्ठ होने के कारण वह मैं हूँ। मासानां मार्गशीर्षः अहम् ऋतूनां कुसुमाकरः—महीनों में मार्गशीर्ष नामक (अग्रहायण) महीना मैं हूँ और ऋतुओं में पुष्पों का आकर बसन्तऋतु मैं हूँ। [पूर्णिमा तिथि मार्गशीर्ष नामक नक्षत्र द्वारा युक्त होती है, इसलिये अग्रहायण महीने को मार्गशीर्ष कहते हैं। बारह महीनों में मार्गशीर्ष में नवीन धान एवं बथुआ साक आदि होते हैं एवं उस महीने में शीत भी नहीं रहती है और घाम भी नहीं। इसलिये वह सर्वप्रकार से सुख का कारण होता है, अतः सर्व ऋतुओं में वह श्रेष्ठ होने के कारण भगवान् कहते हैं वह मार्गशीर्ष मैं हूँ]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—साम मन्त्रों में 'त्वामिद्धि हवामहे' इस ऋचा में जो बृहत्साम गाया जाता है वह मैं हूँ। उसके द्वारा इन्द्र की सर्वेश्वररूप से स्तुति की जाती है, इसलिये वह श्रेष्ठ है। छन्दसाम् अहम् गायत्री—छन्दयुक्त मन्त्रों में गायत्री मन्त्र मैं हूँ क्योंकि गायत्री मन्त्र से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य द्विजभाव प्राप्त होते हैं एवं सोम रस का आहरण किया जाता है, इसलिये वह श्रेष्ठ है। मासानाम् अहं मार्गशीर्षः इत्यादि—महीनों में मार्गशीर्ष अर्थात् अग्रहायण महीना मैं हूँ और ऋतुओं में कुसुमाकर अर्थात् बसन्त ऋतु मैं हूँ।

(२) मधुसूदन—अहं छन्दसां गायत्री—जिसका प्रत्येक पाद अक्षर की संख्या से नियत (नियम से बँधा हुआ है अर्थात् उन

निर्धारित अक्षर की संख्या से कम भी नहीं होता और अधिक भी नहीं होता है) उसे छन्द कहा जाता है। ऋक् मन्त्र छन्दोविशिष्ट होता है। उनमें से गायत्री नाम से ऋक् (मन्त्र) श्रेष्ठ है क्योंकि (क) गायत्री मन्त्र प्राप्त कर ही ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य लोग द्वितीय जन्म प्राप्त करते हैं। इसलिए उनको द्विज कहा जाता है। (ख) सोमयाग में तीन प्रकार का सवन विहित है—प्रातःसवन, माध्यन्दिन, सवन एवं तृतीयसवन। जो यज्ञ में प्रधान अंग है सोमलता से निकाले हुए सोमरस से उसका हवन करना उस यज्ञ को सवन कहा जाता है। उक्त तीन प्रकार के स-न में जो सब ऋक्मन्त्र उच्चारित होते हैं, वे सभी गायत्री छन्दः के अन्तर्भुक्त है। कहने का अभिप्राय यह है कि सोमयाग में प्रातःसवन गायत्री छन्दोविशिष्ट ऋक् मन्त्र से, माध्यन्दिन सवन त्रिष्टुभ छन्दोविशिष्ट ऋक् से ३ तथा तृतीय सवन जगती छन्दोविशिष्ट ऋक् से किया जाता है। गायत्री छन्द में प्रतिपाद में ८ अक्षर रहते हैं उसी प्रकार त्रिष्टुप् छन्द में ११ अक्षर तथा जगती छन्द में १२ अक्षर रहते हैं। इन तीनों छन्दों में गायत्री में ८ अक्षर रहते ही है अतः उन तीनों में गायत्री छन्द व्याप्त रहता है अर्थात् गायत्री छन्द अन्य दोनों में भी अन्तर्भूत है। इसलिये सब छन्दों में गायत्री छन्द श्रेष्ठ है।

(२) श्रुतिवाक्यों से भी गायत्री का श्रेष्ठत्व प्रमाणित होता है। शतपथब्राह्मण में कहा है—'तदाहुर्गायत्री वै सर्वाणि सवनानि गायत्री ह्येवैतदुपसृज्यमानैरिति' अर्थात् ज्ञानी लोग कहते हैं कि सभी सवन गायत्री छन्द से परिव्याप्त है—जो कुछ उपसृष्ट होता है वह गायत्री से पृथक् नहीं है। छान्दोग्य श्रुति में कहा है—'गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्' अर्थात् इस स्थावर जंगमात्मक भूतसमूह गायत्री से अन्य कुछ नहीं है।

(३) शंकरानन्द—'बृहत्साम' इत्यादि। सामवेद में रथन्तर आदि जो साम है उनमें अहम्—मैं बृहत्साम—बृहत्साम हूँ। छन्दसाम्—छन्दों में अर्थात् गायत्री आदि छन्दयुक्त मन्त्रों में अहम्—मैं चतुर्विंशति अक्षरविशिष्ट गायत्री—गायत्री मैं हूँ। चैत्र आदि मासानाम्—महीनों में मैं मार्गशीर्षः—मार्गशीर्ष (अग्रहायण) हूँ। ऋतूनाम्-ऋतुओं में अर्थात् शिशिर आदि ऋतुओं में मैं कुसुमाकरः—वसन्तऋतु हूँ। अवशिष्ट भाग स्पष्ट है।

(४) नारायणी टीका—सामवेद का मन्त्र गाया जाता है। सामों में 'त्वामिद्धि हवामहे' इस ऋचा में आरूढ़ जो गीतिविशेष है वह बृहत्साम है। इससे अतिरात्रयज्ञ में सर्वेश्वररूप से इन्द्र की (परब्रह्म को) स्तुति होती हैं।

अतः वह मोक्ष का प्रतिपादक होने के कारण श्रेष्ठ है। जिसका अक्षर और पाद नियत है उसको छन्द कहते हैं। ऐसी छन्दोविशिष्ट ऋचाओं में गायत्री श्रेष्ठ है क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन द्विजातियों के द्वितीय जन्म होता है एवं गायत्री मन्त्र से सोमरस का आहरण होता है। इसलिये भगवान्ने कहते हैं कि वह गायत्री मैं हूँ अर्थात् गायत्री मेरी विशेष विभूति है। मार्गशीर्षनक्षत्र से युक्त होने के कारण अग्रहायण महीने को मार्गशीर्ष कहते हैं। इस महीने में नवीन धान तथा नानाप्रकार के शाकादि उत्पन्न होते हैं एवं इस महीने में शीत और घाम भी नहीं रहते हैं। इसलिये महीनों में मार्गशीर्ष (अग्रहायण) श्रेष्ठ होने के कारण वह भगवत्स्वरूप अर्थात् भगवान् की विशेष विभूति है। ऋतुओं में कुसुमाकर (बसन्त) ऋतु श्रेष्ठ है क्योंकि अनेक प्रकार के सुगन्धित पुष्पों का विकास इस ऋतु में होता है एवं प्राकृतिक दृश्य भी सर्वप्रकार से रमणीय होता है। फिर 'बसन्ते ब्राह्मणमुपनीत' (बसन्त ऋतु में ब्राह्मण का उपनयन करे), 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' (बसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्न्याधान करे), 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' (प्रत्येक वसन्त में ज्योतिष नाम का यज्ञ करे), 'तद्वै वसन्त एवाभ्यारभेत (उसको वसन्त में ही आरम्भ करे), वसन्तो वै ब्राह्मणस्यर्तुः (बसन्त ही ब्राह्मण का ऋतु है) इस प्रकार बहु शास्त्रवाक्यों में बसन्त ऋतु को श्रेष्ठ बतलाया है अतः वह भगवान् की एक विशेष विभूति है।

[पुनः]

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

अन्वय—अहम् छलयताम् द्यूतम् (अस्मि); तेजस्विनाम् तेजः अस्मि; (अहम्) जयः अस्मि, व्यवसायः अस्मि अहम् सत्ववताम् सत्वम् अस्मि।

अनुवाद—मैं दूसरों को छलने वालों का (पापों से खेलनारूप जूआ हूँ तेजस्वियों का तेज हूँ, मैं ही जीतने वालों का जय और व्यवसायियों का व्यवसाय हूँ तथा मैं ही सात्त्विक पुरुषों का सत्त्वगुण हूँ।

भाष्यदीपिका—अहं छलयतां द्यूतम् (अस्मि)—जो अन्याय पूर्ण उपाय से वञ्चित कर दूसरों के सर्वस्व के हरण का कारण होता है उसे छल अर्थात् ठगने वाला कहते हैं। द्युत शब्द का अर्थ है अक्षक्रीड़ा अर्थात् पापों से खेलनारूप जुआ, वह छलने वाला प्रतिपक्ष का सर्वस्व हरण कर लेता है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि दूसरों को ठगने वालों से सम्बन्ध रखने वाला द्यूत (पासों से

खेलनारूप जूआ, जो दूसरे के सर्वस्वहरण का कारण है, वह) मैं हूँ। तेजस्विनां तेजः अस्मि—जिसका प्रभाव इतना उग्र है कि उसका शासन (आज्ञा) उल्लंघन करने का साहस किसी को नहीं होता है उसे तेजस्वी कहते हैं। इसप्रकार तेजस्वियों का (अत्यन्त उग्रप्रभाव वालों से सम्बन्ध रखने वाला) तेज (उनका कहीं न रुकनेवाला शासन) मैं हूँ अर्थात् वह तेज भगवान् का विशेष प्रकाश है। जयः अस्मि—जीतने वालों की विजय [पराजितों की अपेक्षा उत्कर्षरूप जय (मधुसूदन)] मैं हूँ। व्यवसायः अस्मि—जिस उद्यम से फललाभ अवश्य होता है उसे व्यवसाय कहते हैं अथवा व्यवसाय शब्द का अर्थ निश्चय भी होता है। अतः उद्यमशीलों का उद्यम अथवा निश्चय करनेवालों का निश्चय मैं हूँ अर्थात् वह उद्यम या निश्चय मेरी श्रेष्ठ विभूति है। सत्त्ववतां अहं सत्त्वम्—सत्त्वयुक्त पुरुषों का अर्थात् सात्त्विक पुरुषों का मैं सत्त्व गुण हूँ। [यहाँ सत्त्व शब्द से सत्त्वगुण का कार्य धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्यादि को सूचित किया गया है (मधुसूदन)]।

टिप्पणी (१)—छलयतां द्यूतं अस्मि—छल करने वालों का (दूसरे को ठगने में तत्पर मनुष्यों का) द्यूत (जुआ खेल) मैं हूँ। तेजस्विनां तेजः अहम्—तेजस्वियों का अर्थात् प्रभावयुक्त मनुष्यों का तेज (प्रभाव) मैं हूँ। जयः अस्मि व्यवसायः अस्मि—जीतने वालों का जय मैं हूँ। (व्यवसायिनाम्) व्यवसायः अस्मि—व्यवसायी का (उद्यमशील मनुष्यों का) व्यवसाय (उद्यम) मैं हूँ। सत्त्ववतां सत्त्वं अहम्—सत्त्वगुणयुक्त (सात्त्विक) पुरुषों का सत्त्व (सत्त्वगुण) मैं हूँ।

(२) शंकरानन्द-छलयताम्—छल कपट करने वालों का (माया के द्वारा अर्थात् कपट व्यवहार से परधन हरण करने वालों में अहं द्यूतम्—पासों से खेल करनारूप द्यूत मैं हूँ। जो द्यूतक्रीड़ा दूसरे का सर्वस्व हरण करने का कारण होता है, वह द्यूत मैं हूँ। तेजस्विनां तेजः अस्मि—तेज शब्द का अर्थ प्रागल्भ्य (अप्रतिहत प्रभाव) है। तेजस्वी पुरुषों में वह तेज मैं हूँ। जयः अस्मि—जीतने वालों में मैं जय हूँ। व्यवसायः अस्मि—व्यवसाय (उद्योग) करने वालों का मैं व्यवसाय (उद्योग) हूँ।

(३) नारायणी टीका—पासों से खेल करता हुआ छल द्वारा एक दूसरे का सर्वस्व अपहरण कर लेता है। अतः छल कपट करने वालों की द्यूतक्रीड़ा एक श्रेष्ठ उपाय है। भगवान् कहते हैं कि वह द्यूत (पासों का खेल) मैं ही हूँ क्योंकि छलकपटी को बुद्धि भी मुझसे ही प्राप्त होती है। जो लोग तेजस्वी हैं उनका तेज [अप्रतिहत—आज्ञा अर्थात् जो आज्ञा का

ल्लंघन करने की सामर्थ्य किसी की नहीं है वह आज्ञा (तेज)] भी मैं हूँ। इन्द्रियों को दमन कर मुझे प्राप्त करने के लिये तथा संसार में प्रभुत्व स्थापन करने के लिये तेज की आवश्यकता है। वह तेज मुझ सर्वशक्तिमान् भगवान की ही स्फूरणमात्र (विभूति) है। संसार पर विजय अथवा शत्रुपर जय करने के लिये जो शारीरिक तथा मानसिक उत्कर्षता की आवश्यकता होती है वह उत्कर्ष (जय) भी मैं ही हूँ। मोक्षरूप फललाभ तथा जागतिक फललाभ करने के लिये जो उद्यम आवश्यक होता है वह उद्यम (व्यवसाय) मुझसे ही प्राप्त होता है। वह उद्यम (व्यवसाय) मेरी है विभूति है अतः वह मैं ही हूँ। सबगुणों में सत्त्वगुण श्रेष्ठ है क्योंकि सत्त्वगुण से ही मुझ परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। अतः सात्त्विकों में मैं सत्त्वगुण के रूप से विशेष भाव से स्थित हूँ।

[पुनः]

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥

अन्वय—अहम् वृष्णीनाम् वासुदेवः अस्मि; पाण्डवानाम् धनञ्जयः अस्मि; अहम् मुनीनाम् अपि व्यासः (अस्मि); कवीनाम् (अहम्) उशना कविः (अस्मि)।

अनुवाद–वृष्णिवंशी यादवों में वासुदेव (वसुदेव पुत्र) मैं हूँ, पाण्डवों में अर्जुन मैं हूँ, मुनियों में व्यास और कवियों में उशना (शुक्राचार्य) मैं हूँ।

भाष्यदीपिका—अहं वृष्णीनां वासुदेवः अस्मि--वृष्णि (यदु) वंशियों में वासुदेव (वसुदेव के पुत्र) आविर्भूत होकर जो श्रेष्ठ पुरुष के रूप में सबकी मान्यता प्राप्त है तथा तुम्हारा (अर्जुन का) सखारूप से तुमको उपदेश दे रहा है वह वासुदेव मैं हूँ। [वासुदेव साक्षात् भगवत् स्वरूप है तब भी उनको यदुवंशियों में भगवान् की श्रेष्ठ विभूतिरूप से उल्लेख करने का तात्पर्य यह है कि भक्त लोग उनको विभूतिरूप से (सगुणरूप से) ध्यान करके अनायास चित्त की स्थिरता सम्पादन में समर्थ होंगे एवं तत्पश्चात् निर्विकल्प समाधि से परमार्थ दर्शन करने की (आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने की योग्यता प्राप्त हो सकेंगी]। पाण्डवानां धनञ्जयः अस्मि—तथा पाण्डवों में श्रेष्ठ पुरुष धनञ्जय तुम हो और तुम ही मैं हूँ। [मैंने ही धनञ्जय रूप से शिष्यत्व वरण किया और मैं ही गुरुरूप से वासुदेव के मुखसे उपदेश दे रहा हूँ। दोनों ही मेरी विभूतियाँ हैं—यही कहने का तात्पर्य है]।

अहं मुनीनाम् अपि व्यासः (अस्मि)—मुनियों में (मननशीलों में) अर्थात् सर्वपदार्थ का स्वरूप जो जानते हैं उनमें मैं वेदव्यास हूँ। कवीनाम् (अहम्) उशना कविः—कवियों में (क्रान्तदर्शियों में) अर्थात् सूक्ष्म वस्तुओं का विवेक करने वालों में उशना कवि के नाम से विख्यात दैत्यगुरु शुक्राचार्य मैं हूँ। ['उशना कवि' यहाँ कवि शब्द का रूढ़ अर्थ न ग्रहण कर यौगिक अर्थ करना पड़ेगा अर्थात जो दैत्य के गुरुरूप से उशना नामक कवि के रूप में प्रसिद्ध है, वह मैं ही हूँ—इसप्रकार व्याख्या करना होगा। नहीं तो श्लोक में दो बार कवि शब्द का उल्लेख रहने के कारण पुनरुक्ति दोष उपस्थित होगा।

टिप्पणी (१) श्रीधर—वृष्णीनाम् इति—वृष्णिवंशियों में जो वासुदेव तुमको उपदेश कर रहा है, वह मैं हूँ। पाण्डवों में धनञ्जय है। वह भी मैं हूँ अर्थात् मेरी विभूति है। मुनियों में (वेद के अर्थ का मनन करने वालों में) वेद व्यास मैं हूँ। कवियों में (क्रान्तदर्शियों में अर्थात् त्रिकालज्ञ विद्वान् पुरुषों में) मैं उशना नामक कवि शुक्राचार्य हूँ।

(२) शंकरानंद—कवीनाम्—तत्त्वज्ञानियों में उशना (शुक्राचार्य) हूँ। अन्य स्पष्ट।

(३) नारायणी टीका-वृष्णिवंशियों में जो वासुदेवरूप से मैं अवतीर्ण हुआ हूँ कि सर्ववेदप्रतिपाद्य सत्य, ज्ञान, अनन्तस्वरूप परमानन्दघन ब्रह्म है। इसलिये यह सर्वश्रेष्ठ है तथापि उस वासुदेव को मेरी विभूतिरूप से वर्णन करने का उद्देश्य यह है कि मेरे इस सगुण भाव को ध्यान कर मेरा भक्त मेरा शुद्धचैतन्यस्वरूप का साक्षात्कार कर सके पाण्डवों में तुम धनञ्जय हो अर्थात् मोक्षरूप धन को जय करने में समर्थ हो, इसलिये मेरा विशेष प्रकाश तुममें है, अतः तुम श्रेष्ठ हो क्योंकि वह धनञ्जय मैं ही हूँ। प्रश्न होगा पाण्डवों में युधिष्ठिर परम धार्मिक थे अतः उनको क्यों श्रेष्ठ तथा तुम्हारी विभूति नहीं माना जायगा? इसके उत्तर में कहा जायगा कि युधिष्ठिर धार्मिकों में श्रेष्ठ थे किन्तु अर्जुन केवल धार्मिक ही नहीं थे परन्तु श्रेष्ठ वीर, अभूतपूर्व संयमी तथा परम भक्त भी थे क्योंकि वह जीवनरथ के सारथीरूप से भगवान का आश्रय किये थे। दिव्यसौन्दर्यसम्पन्न उर्वशी का प्रत्याख्यान, किरात की जय, इन्द्रलोक में गमन, निवातकवच का विनाश, उत्तरा के साथ विवाह में तथा भीष्म, द्रोण, कर्णादि के वध में जो शौर्य, वीर्य प्रदर्शन किये थे उस कारण उनको पाण्डवों में सर्वश्रेष्ठ पुरुष माना गया है। मोक्षरूप धन को जय करने में उनको पूर्ण सामर्थ्य है इसे विचार कर श्रीभगवान् ने

अपने मुख से इनको ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। इसलिये भगवान् कहते हैं—पाण्डवों में तुम धनञ्जय अर्थात् तुम मेरी विशेष विभूति हो। मुनियों में अर्थात् जो मननशील होकर सर्व पदार्थ के तत्त्व को जान गये हैं उनमें मैं वेद व्यास हूँ, क्योंकि वे कलिकाल में हीनवीर्य पुरुषों के लिये सम्पूर्ण वेद का धारण करना असम्भव होगा ऐसा सोचकर उन्होंने वेद को ऋग्, साम, यजु तथा अथर्व के रूप में विभाग किया था। उन्होंने वेद का व्याख्यारूप से अष्टादश पुराण, महाभारतरूप इतिहास इत्यादि की रचना की थी। इसलिये वे श्रेष्ठ हैं एवं मेरी एक विशेष विभूति हैं। जो लोग सूक्ष्म अर्थ का दर्शन करने में समर्थ हैं वे कवि हैं। कवियों में दैत्यगुरु उशना (शुक्राचार्य) मैं हूँ। शुक्राचार्य इतना सूक्ष्मदर्शी थे कि उनके बल से दैत्यलोग देवताओं को भी वारंवार पराजय कर लेते थे।

[पुनः—]

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—दमयतां दण्डः अस्मि; जिगीषतां नीतिः अस्मि; गुह्यानां च एव मौनम् अस्मि; ज्ञानवताम् अहम् ज्ञानम् अस्मि।

अनुवाद—कुमार्ग में जाने वाले अजितेन्द्रियों को सुमार्ग में प्रवृत्त करने का (उत्पथ प्रवृत्ति को रोकने का) उपाय जो दण्ड है वह मैं हूँ। जीतने की इच्छा वालों की नीति (न्याय) [अर्थात् जय के उपायों की प्रकाशक नीति] मैं हूँ। गोपनीयों में गोपन रखने का उपाय जो मौन है वह मौन मैं ही हूँ और ज्ञानवानों का ज्ञान भी मैं हूँ।

भाष्यदीपिका—दमयतां दण्डः अस्मि—दमन करने वालों का दण्ड मैं हूँ अर्थात् उस मार्ग में चलने वालों को दमन करने की शक्ति मैं हूँ। [असंयत तथा उत्पथगामी (उच्छृङ्खल) व्यक्तियों का जो लोग दमन कर ठीक-ठीक रास्ते में लाने के लिए प्रयत्न करते हैं उन को दमयिता कहते हैं। दण्ड से ही उन्मार्गगामी पुरुषों को दमन करना सम्भव है।] जिस शक्ति से अपराधी उसका दमन किया जाता है वह मैं ही हूँ अर्थात् वह मेरी विभूति है। जिगीषतां नीतिः अस्मि—जो विजय प्राप्त करना चाहते हैं उनका न्याय (साम, दान, दण्ड, भेद इत्यादि जयलाभ के उपाय रूप से जो नीति शास्त्र से विहित है वह) मैं ही हूँ। शास्त्रविहित तथा धर्मसंगत जो

नीतियाँ हैं उन का उल्लङ्घन कर कोई यथार्थ तथा स्थायी जयलाभ करने में समर्थ नहीं हैं। इसलिए महाभारत में कहा गया है—'यतो धर्मस्ततो जयः' अर्थात् जो पक्ष में धर्मानुकूल नीति है उस पक्ष की ही जय होगी। **गुह्यानां च एव मौनम् अस्मि**—गुह्यों में (गुप्त रखने योग्य भावों में गोपन का हेतुभूत जो मौन अर्थात् वाणी का संयम है वह मैं हूँ [क्योंकि मौनी के (चुपचाप बैठे हुए पुरुष के) अभिप्राय का पता नहीं लगता। अथवा गुह्य यानी गोपनीयों में (गूढ़ आत्मतत्त्व सम्बन्ध में) विधिवत् संन्यास, श्रवण एवं मननपूर्वक किया जाने वाला निदिध्यासनरूप (आत्मा में समाधिरूप) मौन मैं हूँ। (मधुसूदन)]

ज्ञानवताम् अहं ज्ञानम् अस्मि—ज्ञानियों का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के परिपाक से होने वाला सम्पूर्ण अज्ञान का नाशक जो अद्वितीय आत्म-साक्षात्कार रूप ज्ञान उत्पन्न होता है वह मैं हूँ (मधुसूदन)। यहाँ ज्ञानवान् शब्द से तत्त्वज्ञानी और ज्ञान शब्द से परमतत्त्व का साक्षात्कार रूप सम्यग्दर्शन को सूचित कर रहे हैं।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—दण्डः दमयताम् अस्मि इत्यादि—दमन करने वालों का दण्ड मैं हूँ अर्थात् जिसके द्वारा असंयत भी संयत हो जाते हैं, वह दण्ड मेरी विभूति है। **जिगीषतां नीतिः अस्मि**—जय करने की इच्छा रखने वालों का साम, दान, दण्ड, भेद आदि उपाय रूप नीति मैं हूँ। गुह्यों को (गोपनीय भावों को) गुप्त रखने का उपाय मौन (न बोलना—चुपचाप रहना) भी मैं हूँ, क्योंकि चुप रहने वाले का अभिप्राय नहीं जाना जाता। **ज्ञानवताम् अहं ज्ञानम्**—तत्त्वज्ञानियों का जो ज्ञान है वह भी मैं हूँ अर्थात् वह मेरी विभूति हैं।

(२) शंकरानन्द—'दण्डो' इत्यादि। **दमयताम्**—दमनकारियों में अर्थात् दुष्टजनों को शिक्षा देने वालों में **अहम्**—मैं **दण्डः**—दण्ड अर्थात् दण्डन क्रिया हूँ। **जिगीषताम्**—जय करने की इच्छा करने वालों में **नीतिः**—नीति (न्याय) अर्थात् जो शास्त्रीय धर्म मार्ग है वह मैं ही हूँ। **गुह्यानाम्**—गुह्य विषयों में अर्थात् गोपनीयों में जो **मौनम्**—मौन अर्थात् मननशीलत्व है वह मैं हूँ। **ज्ञानवताम्**—ज्ञानियों में जो **ज्ञानम्**—अर्थात् जो ब्रह्मात्मैक्य विषयज्ञान मुक्ति का साधन है वह भी मैं ही हूँ।

(३) नारायणी टीका—शास्त्रविहित दण्ड दे कर दमनकारी अर्थात् दुष्टों के शिक्षा देनेवाला दण्डित व्यक्ति का तथा समाज का कल्याण करता है।

अपराधी व्यक्ति दण्ड के भय से अपराध से निवृत्त होता है और अपराधी की संख्या क्रमशः कम होने के कारण समाज तथा राष्ट्र भी अपराधियों के अत्याचार से मुक्त हो जाते हैं। इस लिए इस प्रकार दण्ड भगवत् कृपा का ही स्वरूप है। अतः, भगवान् कहते हैं कि दुष्टों के दमन करने वालों में मैं दण्ड हूँ। नीति शब्द का अर्थ यहाँ साम, दान, दण्ड, भेदरूप शास्त्रविहित राजनीति है। जो लोग बाहर के 'शत्रु' को पराजय करने की इच्छा करते हैं वे यदि शास्त्रानुकूल नीति (जो धर्म के साथ सम्बन्धयुक्त है) पालन नहीं करते हैं, तो वह जय लोक दृष्टि में निन्दित होने के कारण वह इह लोक में यश देने वाली नहीं होती है एवं परलोक में भी धर्म से च्युत होने के कारण सुगति नहीं दे सकती है। किन्तु नीति से जो जय प्राप्त होती है वह यश तथा सद्गति का कारण होती है। फिर भीतरी शत्रु को (काम क्रोधादि को) जय करने के लिये तो शास्त्रीय नीति का पालन अनिवार्य ही है। अतः नीति भगवान् की विशेष विभूति है अर्थात् वह भगवत् स्वरूप ही है। गुह्य (गोपनीय) वस्तु को मौन (वाक् संयम) द्वारा रक्षा करना पड़ता है क्योंकि अनधिकारियों के निकट व्यक्त होने पर उसका दुरुपयोग होने की सम्भावना रहती है। आध्यात्मिक तत्त्व के सम्बन्ध में मौन न रहने पर अर्थात् अनधिकारियों में व्यक्त होने पर उन लोगों की समालोचना सुनने से उस विषय में एकाग्रता, श्रद्धा तथा विश्वास को हानि होती है। अतः गोपनीय विषय में मौन भगवान् की एक श्रेष्ठ विभूति है। विषयी को जो विषयज्ञान होता है उसमें ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की पृथक्त्व बुद्धि रहती है। इसलिये चित्त का विक्षेप (चाञ्चल्य) रहता है और तत्त्वज्ञान में (आत्मसाक्षात्कारजनित ज्ञान में) ज्ञान, ज्ञाता ओर ज्ञेय एक हो जाते हैं। अतः सर्ववृत्ति से रहित होने से परमशक्ति का अनुभव होता है। इसलिये ज्ञानवान् का (तत्त्वज्ञानी का) ज्ञान (परमार्थ दर्शन) भगवान् का स्वरूप ही है।

[पुनः—]

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

अन्वय--हे अर्जुन! यत् च अपि सर्वभूतानाम् बीजम् तत् अहम् (एव अस्मि); मया विना भूतम् यत् स्यात् तत् चराचरम् न अस्ति।

अनुवाद—हे अर्जुन समस्त भूतों का जो बीज है वह भी मैं हूँ। ऐसी कोई जंगम या स्थावर वस्तु नहीं है जो मुझसे रहित हो।

भाष्यदीपिका—हे अर्जुन ! मलिनबुद्धिवाला पुरुष मेरा सर्वस्वरूपत्व तथा सर्वकारणत्व नही जानता है किन्तु तुम तो अर्जुन (शुद्ध बुद्धि वाले) हो। अतः मेरा तत्त्व तुम्हारी बुद्धि से अगम्य नहीं है। यही भगवान का 'अर्जुन' शब्द से सम्बोधन करने का अभिप्राय है। यत् च अपि सर्वभूतानां बोजं तत् अहम् (एव अस्मि-) जो मायोपाधिक चैतन्य समस्त भूतों की उत्पत्ति का हेतुभूत (कारणरूप) बीज है वह मैं ही हूँ। [अब प्रकरण का उपसंहार करने के लिये समस्त विभूतियों का सार कहते हैं-] मया बिना भूतं यत् स्यात् तत् चराचरं न अस्ति--जो मेरे बिना ही ऐसा कोई चर या अचर भूत अर्थात् वस्तु है ही नहीं; [क्योंकि सब मेरा कार्य है (मधुसूदन)] जो मुझसे रहित होगा वह सत्तारहित (शून्य) होगा, अतः यह सिद्ध हुआ कि सब कुछ मेरा ही स्वरूप है। [कहने का अभिप्राय यह है कि मुझ चेतन्यस्वरूप परमात्मा को अधिष्ठान कर मायारचित मिथ्या विश्व प्रपञ्च प्रकाशित हो रहा है। अधिष्ठान सत्ता के अतिरिक्त मिथ्या वस्तु की कोई पृथक् सत्ता नहीं है। अतः सभी चर या अचर भूतसमूह मदात्मक हैं अर्थात् मेरी सत्ता से सत्तावान् तथा मेरे प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं। अतः मुझको छोड़कर कोई वस्तु नहीं है।]

टिप्पणी। (१) श्रीधर—यच्चापि सर्वभूतानाम् इत्यादि-हे अर्जुन ! जो समस्त भूतों का (प्राणियों का) बीज (उत्पत्तिका कारण) है वह मैं ही हूँ, क्योंकि मुझसे रहित होकर जो कोई वस्तु (भूत) प्रतीत होगी वह चर (चलने वाली) हो कि अचर (स्थिर अर्थात् नहीं चलने वाली) हो, वह नहीं है (उसका अस्तित्व नहीं है) अर्थात् बिना मेरे (मुझसे रहित होकर) कोई भी वस्तु प्रतीत नहीं हो सकती है।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार विभूति विशेषको व्यक्त कर उपक्रम का उपसंहार करने के लिए 'सम्पूर्ण कार्य कारण मात्र ही है' इस न्याय की सहायता से सामान्यतः सब कुछ मैं (भगवान्) ही हूँ, इस प्रकार 'यच्च' इत्यादि के द्वारा कह रहे हैं। किञ्च यत् च अपि सर्वभूतानाम्-जो आकाशादि सभी भूतों के बीज-बीज अर्थात् उत्पत्ति का कारण (अव्याकृत नामक जगत् की योनि) है तत् अहम्—वह मैं हूँ। इसके द्वारा सूचित किया कि कार्य कारणमात्र होने के कारण सब कुछ मैं ही हूँ। अब सिद्ध अर्थको ही व्यतिरेक मुख से कह रहे हैं 'न तदस्ति'। मया विना मुझ सच्चिदानन्द स्वरूप अनन्त ब्रह्म के विना भूतं-भूत (वस्तु) अर्थात् मेरी सत्ता से अव्याप्त (मुझसे भिन्न) चरम् अचरम् यत्—चर अथवा अचर

यदि यत्—जो (कोई) वस्तु स्यात् हो तत्–वह तीनों लोकों में भी न अस्ति–'नहीं है'। मुझसे भिन्न, सत् अथवा असत् किसी वस्तु की कहीं भी कोई भी सम्भावना नहीं की जा सकती, यही अर्थ है। इसके द्वारा सब कुछ मैं ही हूँ, यह सिद्ध हुआ, क्योंकि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् 'ब्रह्म ही यह सब है' ऐसी श्रुति है ॥ ३९ ॥

(३) नारायणी टीका—चराचर (स्थावर जंगम) जो कुछ दृष्ट होता है उन सबका बीज (उत्पत्ति स्थान या कारण) ब्रह्म (परमात्मा) ही है। इस दशम अध्याय में विभूति रूप से जो कुछ वर्णित हुआ है वह सभी मायिक (मिथ्या अर्थात अवस्तु) है। चलचित्र के समान अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप आत्मा में उनकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का अभिनय हो रहा है। जिस प्रकार श्वेत वस्त्रखण्ड के (White Scrceen के) अतिरिक्त चलचित्र में कोई भी नामरूपक्रियात्मक वस्तु की पृथक सत्ता नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म-रूप अधिष्ठान की सत्ता के बिना विश्वप्रपञ्च में कोई की पृथक् सत्ता (अस्तित्व) नहीं है। अज्ञान से ही प्रपञ्च की प्रतीति होती है—आत्मा के स्वरूप के ज्ञान से यह भ्रम निवृत्त होता है। सर्वात्मा भगवान् की विभूतियाँ भी माया से प्रतीत होने के कारण मिथ्या ही है। तथापि इन विभूतियों में किसी को ध्येयरूप से अवलम्बन कर यदि चित्त की स्थिरता का सम्पादन किया जाय तो सर्वाधिष्ठान आत्मस्वरूप भगवान का साक्षात्कार कर उनके साथ एकात्मत्व का अनुभव करने पर जगत् भ्रान्ति बराबर के लिये निवृत्त होती है। इस प्रकार मिथ्या विभूतियों की उपासना भ्रमात्मक होने पर भी वह संवादी भ्रम है अर्थात् उनके अधिष्ठानरूप सर्वात्मा परब्रह्म का साक्षात्कार करने में निश्चित रूप से सहायक होती है। दशम अध्याय में विभूतियों के वर्णन का यही तात्पर्य है। भगवान की विभूतियों की उपासना से 'वासुदेवः सर्वमिति' (वासुदेव ही सब कुछ है) इस प्रकार अद्वैत ज्ञान में प्रतिष्ठित होकर जीव कृतकृत्य हो जाता है। दशम अध्याय में 'अहमात्मा गुडाकेश' ऐसा कहकर उपक्रम करके 'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च' इस प्रकार के वचन द्वारा एकमात्र शुद्ध अद्वैत चैतन्यस्वरूप वासुदेव ही सर्वत्र समभाव से विद्यमान है ऐसा प्रतिपन्न कर अन्त में 'न तदस्ति विना यत् स्यात्'' ऐसा कहकर भगवानने अब उपसंहार करके यही सिद्ध किया कि 'यह सब ब्रह्म है' तथा 'ब्रह्म ही सब है'। सर्वप्रपञ्चरहित अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार करना ही सभी उपासना का लक्ष्य है क्योंकि अद्वैत तत्त्व के साक्षात्कार के बिना अज्ञान का नाश तथा सर्वप्रकार के भय से मुक्त होकर परमानन्द की प्राप्ति सम्भव नहीं होती है।

[भगवान् की विभूतियाँ अनन्त है अतः उनका पूर्ण रूप से वर्णन करना सम्भव नहीं है। इसलिये जो विभूतियों का यहाँ उल्लेख किया गया है। वह केवल मात्र दिग् दर्शन रूप से वर्णित हुआ है, यही अब भगवान् स्पष्ट कर रहे हैं-]।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ ४०॥

अन्वय—हे परन्तप! मम दिव्यानाम् विभूतिनाम् अन्तः नास्ति। एषः तु विभूतेः विस्तरः मया उद्देशतः प्रोक्तः।

अनुवाद—हे शत्रुदमन! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। यह तो अपनी विभूतियों का विस्तार मेरे द्वारा संक्षेप से अर्थात् एक अंश से ही कहा गया है।

भाष्यदीपिका—हे परन्तप—परों को अर्थात् काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं को ताप जो उत्पन्न करता है अर्थात् उनका नाश जो करने में समर्थ है उसे परंतप कहते हैं। जो लोग इन्द्रियों का संयम कर काम, क्रोध शत्रुयोंको जय नहीं कर सकते है वे चित्त की अशुद्धि के कारण भगवान् की विभूतियोंका तात्पर्य बुद्धि में धारण नहीं कर सकते हैं अतः ध्यान से चित्त को समाहित कर उन विभूतियों के यथार्थ तत्त्व को जान नहीं सकते है। किन्तु अर्जुन तत्त्व-ज्ञान का अधिकारी है यह सूचित करने के लिये 'परंतप' शब्द से भगवान् ने उनको सम्बोधन किया। मम दिव्यानां विभूतीनाम् अन्तः न अस्ति—मेरी दिव्य (अलौकिक) विभूतियों के विस्तार का अन्त (शेष सीमा) नहीं है। क्योंकि सर्वात्मरूप इश्वर की दिव्य विभूतियाँ 'इतनी ही है' इस प्रकार किसी के द्वारा भी जाना या कहा नहीं जा सकता। [सर्वज्ञ मेरे द्वारा भी उसे जानना या कहना सम्भव नहीं है क्योंकि वे सब माया से प्रतीत होते हैं। जो मेरे समान सर्वज्ञ होंगे वे तो सत् को (नित्य सत्य आत्म-वस्तु को ही जानेंगे। मायारचित अतः कल्पित (अर्थात् पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या) विभूतियों को वे कैसे जानेंगे। एवं उनका अन्ततक वर्णन करेंगे ? एषः तु विभूतेः विस्तरः मया उद्देशतः प्रोक्तः—यह तो मेरी विभूतियों का विस्तार मेरे द्वारा संक्षेप से अर्थात् एक अंश से कहा गया है। अनन्त विभूतियों के विस्तार का सम्पूर्ण वर्णन असम्भव है अतः मैंने तुमसे उद्देशतः अर्थात् एक देशमात्र से कहा है (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[अत्र प्रकरण के अर्थ का उपसंहार करते हैं—]हे परंतप, मम दिव्यानाम् इत्यादि—हे शत्रुनाशक ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है, अतः उनका पूर्णरूप से वर्णन नहीं किया जा सकता है। इसलिये मैंने यहाँ मेरी विभूतियों का विस्तार 'उद्देशतः' अर्थात् संक्षेप से कहा है।

(२) शंकरानन्द—जिस कारण से सब मेरी ही विभूतियाँ हैं उस कारण मेरी विभूतियों का अन्त नहीं है, यह 'नान्तोऽस्ति' इत्यादि के द्वारा कह रहे हैं। निर्विशेष परब्रह्म को आधार मानकर त्रिगुणात्मिका माया अपने विकार अहम् आदि के साथ जो आविर्भाव एवं तिरोभाव रूप क्रीड़ा करती है, वह दिव्य है,—उस (माया) से उत्पन्न हुई मम—मेरी दिव्यानां—दिव्य विभूतीनाम् अन्तो न अस्ति—विभूतियों का अन्त नहीं है—अर्थात् मेरी माया के शक्ति समूह का एवं माया के विकारों का आनंत्य होने के कारण मेरी विभूतियाँ भी अनन्त हैं, इसलिए उसका अन्त अर्थात् इयत्ता (सीमा) नहीं है, यही अर्थ है। तब 'आदित्यानामहं विष्णुः' ('आदित्यों में मैं विष्णु हूँ') इत्यादि के द्वारा तुम्हारी विभूतियों को स्वयं तुम कैसे कहते हो इस पर कह रहे हैं। अब जो विभूतेः विस्तरः मया प्रोक्तः—विभूति का विस्तार मेरे द्वारा कहा गया एष तु—वह तो केवल उद्देशतः—उद्देशतः अर्थात् संक्षेप से कहा गया, विस्तृत रूप से नहीं। मेरी (ब्रह्म की) विभूतियाँ का शत शत अथवा करोड़ करोड़ कल्पों में भी यथार्थ (पूर्वरूप से) कथन अथवा परिज्ञान नहीं हो सकता है।

(३) नारायणी टीका—भगवान् एक होते हुए भी नित्य अपने स्वरूप में रहते हुए भी, अज (जन्मरहित) होते हुए भी अपने (अर्थात् स्वतःसिद्ध) माया से (कल्पनाशक्ति से) अपने को अनन्त नाम तथा रूप में प्रकाश कर रहे हैं। ये सब ही भगवान् की दिव्य (अलौकिक) विभूतियाँ है। अनन्त का अन्त नहीं हो सकता, अतः भगवान् की विभूतियों का वर्णन पूर्णरूप से कभी सम्भव नहीं है। इसलिये श्रीभगवान् ने अपनी विभूतियों का विस्तार 'उद्देशतः' अर्थात् संक्षेप से किया जिससे भक्तजन श्रद्धा से उन विभूतियों में से किसी का अवलम्बन कर समाधि के अभ्यास के द्वारा परमतत्त्व को जान सकें।

[भगवान् का विशेष प्रकाश किन किन वस्तुओं में है यह कहते हैं। इस प्रकार प्रकाशविशिष्ट सब ही भगवान् की विभूतियाँ है ऐसा समझना होगा—]

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

अन्वय—यत् यत् सत्त्वम् विभूतिमत् श्रीमत् ऊर्जितम् वा तत् तत् एव मम तेजोंऽशसम्भवम् (इति) त्वम् अवगच्छ।

अनुवाद—जो जो सत्त्व (प्राणी) विभूतिमान् (ऐश्वर्ययुक्त), श्रीमान् (सम्पत् तथा शोभा एवं कान्ति से युक्त) तथा ऊर्जित (बल आदि के अतिशय से युक्त) हो उसी-उसी को तुम मेरे तेज के (शक्ति के) अंश से सम्भूत (उत्पन्न) हुआ है, ऐसा समझो।

भाष्यदीपिका–यत् यत् सत्त्वम्–संसार में जो-जो भी सत्त्व (वस्तु) [सत्त्व प्राणी (मधुसूदन) प्राणीजात वस्तु (आनन्दगिरि)] विभूतमत्—विभूतियुक्त (ऐश्वर्ययुक्त) श्रीमत्—लक्ष्मी से युक्त ['श्री' शब्द का अर्थ है लक्ष्मी, सम्पत्, शोभा अथवा कान्ति, उससे युक्त (मधुसूदन) अथवा समृद्धि अथवा क्रान्ति से युक्त (आनन्दगिरि)] उर्जितम्—उत्साह से सम्पन्न (युक्त) [बलादि के अर्थात् बल, वीर्य तथा प्राणशक्ति के अतिशय से युक्त (मधुसूदन)। बल आदि के आधिक्य रहने से उत्साह युक्त होना सम्भव है।] तत् तत् एव—उन-उनको मम तेजोंशसम्भवं त्वम् अवगच्छ—मुझ ईश्वर के तेजोमय अंश से उत्पन्न हुए ही जानो [मेरे तेजके एक अंश भाग से अर्थात् मुझ चैतन्यस्वरूप ईश्वर की शक्ति के अंश से (आनन्दगिरि) सम्भव (उत्पत्ति) हुई है जिनकी वे तेजोंश सम्भव है]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[फिर भी जिनकी पूर्णरूप से भगवान् की विभूतियों को जानने की आकांक्षा है उनके प्रति सकल विभूतियों के साधारण लक्षण बतला रहे हैं–यत् यत् विभूतिमत् इत्यादि—विभूति (ऐश्वर्य) युक्त, श्रीमान् (सम्पत्तियुक्त) ऊर्जित (किसी प्रकार के प्रभाव द्वारा अथवा बलादि के द्वारा अथवा गुण के द्वारा अतिशयता को प्राप्त हुए) जो जो सत्त्व (वस्तुमात्र) हो तत् तत् एव त्वम् विद्धि इत्यादि—उस-उसको ही तुम मेरे तेज के (प्रभाव के) अंश से उत्पन्न हुआ है, ऐसा समझो।

(२) शंकरानन्द—यदि ऐसा ही है तब आपके विभूति विशेष को सर्वत्र कैसे जान सकते हैं ? ऐसी आकांक्षा होने पर जो लक्षण अब बताये जा रहे हैं उन लक्षणसमूह के द्वारा जानना चाहिए, इस उद्देश्य से कह रहे हैं–

लोके—इहलोक में तथा परलोक में यत् यत् सत्त्वं—जो जो सत्त्व अर्थात् चेतन अथवा अचेतन द्रव्य विभूतिमत्—विभूति अर्थात् प्राजापत्य, प्रभाव, धन, पुण्यकर्म, विद्या, तपकी अथवा शौर्य, धैर्य, औदार्य, शम, दम आदि सद्गुणों की अथवा ज्ञान की समृद्धि जिसमें हो, विभूतिमत्] इस प्रकार जो-जो सत्त्व (द्रव्य) विभूति से युक्त है तथा उर्जितम्—उर्जित (ओज से अथवा तेज से अथवा वेग से अथवा पौरुष से अथवा सार से अथवा आकार से अथवा दृढ़ता से या उत्साह से महत्तर जो द्रव्य है) तथा श्रीमत्—श्रीमत् (शोभा अथवा लक्ष्मी अथवा कान्ति अथवा सरस्वती अथवा बुद्धि अथवा कीर्ति अथवा स्फुर्ति जिसमें है, वह श्रीमत् है। तत् तत् एव—इस प्रकार विभूति से, श्रीसे युक्त तथा उर्जित जो जो वस्तु देखने में आती है वह वस्तु मम-मेरे अर्थात् परमेश्वर के तेजोंऽशसम्भवम्—तेज के अंश से उत्पन्न हुआ है। (सद्गुणों के द्वारा मेरे प्रभाव को जो प्रकाशित करता है, वह तेज है अर्थात् मेरी शक्ति है उसका (तेज का) अंश सम्भव है अर्थात् उत्पत्ति का कारण जिसका वह तेजः अंश सम्भव' है) त्वम् अवगच्छ—यह परमेश्वर की विशेष विभूति है ऐसा त्वं—तुम समझो।

(३) नारायणी टीका—शुद्ध चैतन्यस्वरूप अनन्त भगवान में जो जगत् प्रपञ्च प्रतिभासित होता है वह भी उनकी अनन्त मायाशक्ति का ही विकास है अर्थात् जगत् की प्रत्येक वस्तु भगवान् की शक्ति का स्फुरण होने के कारण प्रत्येक वस्तु को ही भगवान् की विभूतिरूप से माना जा सकता है। इसलिये भगवान्ने पूर्ववर्ती श्लोक में कहा है–नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप"। तथापि किसी किसी वस्तु में उनका विशेष प्रकाश रहता है उनका ही १० म अध्याय में विभूतिरूप से विशेषतः उल्लेख किया गया है। अब विशेष विभूतियों का साधारण लक्षण क्या है? यह स्पष्ट कर रहे हैं। जो जो वस्तु (स्थावर या जंगम वस्तु) विभूतिमत् (ऐश्वर्ययुक्त) श्रीमत् (समृद्धिशाली अथवा शोभा एवं कान्तियुक्त है तथा ऊर्जित (बल एवं प्राणशक्ति की अतिशयता से युक्त है अर्थात् उत्साहयुक्त) है वे मेरा तेज (विशेष प्रकाश या प्रभाव) के अंश से उत्पन्न हुए है, अतः वे मेरी विशेष विभूतियाँ हैं; ऐसा समझो।

[इस प्रकार पृथक् पृथक् रूप से विभूति का वर्णन कर उसे समष्टि रूप से कहते हैं—]

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ ४२॥

अन्वय—हे धनञ्जय ! अथवा तव एतेन बहुना ज्ञातेन किम् ? अहम् एकांशेन इदम् कृत्स्नम् जगत् विष्टभ्य स्थितः ।

अनुवाद—अथवा इस प्रकार के बहुत प्रकार के (परिच्छिन्न विभूतियों के) ज्ञान से तुम्हारा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ! हे अर्जुन ! इस सम्पूर्ण जगत् को मैं एक अंश से (अपने एक देशमात्र से) धारण करके (व्याप्त करके) स्थित हूँ अर्थात् मेरे सिवा और कुछ भी नहीं है ।

भाष्यदीपिका—हे धनञ्जय—'भगवान् सर्वत्र समभाव से स्थित हैं' इस प्रकार सम्यक् (पूर्ण) ज्ञान को प्राप्त कर अर्जुन मोक्षरूप परमधन जय करने में समर्थ होगा इसे सूचित करने के लिये श्रीभगवान ने अर्जुन को 'धनञ्जय' कहकर सम्बोधन किया अथवा तव एतेन बहुना ज्ञातेन किम्—अथवा जो विभूतियों के विस्तार का वर्णन भी समाप्त नहीं हो सकता उन उपर्युक्त प्रकार से वर्णित किये हुए अधूरे (सावशेष अर्थात् परिच्छिन्न) बहुत प्रकार की विभूतियों के ज्ञान से (जानने से) तुम्हारा क्या (प्रयोजन सिद्ध) होगा । तुम अब सम्पूर्णतारूप से कहे जानेवाला मेरा अभिप्राय सुन लो अहम् एकांशेन इदं कृत्स्नम् जगत् विष्टभ्य स्थितः-मैं एक अंश से अर्थात् सर्व भूतों की आत्मा के रूप से जो मेरा एक अवयव (एक पाद) है, उससे इस सारे दृश्य जगत् को विशेष रूप से सम्भव करके अर्थात् दृढ़ता पूर्वक धारण करके स्थित हो रहा हूँ । वेदमन्त्र भी ऐसा ही कहते हैं–'पादोऽस्य विश्वा भूतानि (तै० आर० ३।१२) अर्थात् समस्त भूत इस परमेश्वर का पाद है (और इसके अमृतमय तीनों पाद द्युलोक में हैं । अतः भगवान के सिवा और कुछ भी नहीं है क्योंकि उनका एक पाद (अंशमात्र) सर्वत्र (जागतिक सभी भूतों में) व्याप्त होकर स्थित है ।

कुर्वन्ति केऽपि कृतिनः क्वचिदप्यनन्ते
स्वान्तं विधाय विषयान्तरशान्तिमेव ।
त्वत्पादपद्मविगलन्मकरन्दबिन्दु-
मास्वाद्य माद्यति मुहुर्मधुभिन् मनो मे ॥

अर्थात् कोई भाग्यशाली तो किसी किसी समय अनन्त भगवत्तत्त्व में अपने अन्तः करण को स्थिर करके अन्य विषयों की शान्ति करते हैं, किन्तु हे मधुसूदन ? मेरा मन तो आप के पादारविन्द से झरते हुए मकरन्द के बिन्दुओं का आस्वादन करके बार बार मतवाला हो जाता है । मधुसूदन) ।

टिप्पणी (१) श्रीधर—अथवा बहुना एतेन इत्यादि—अथवा इस परिच्छिन्न दर्शन से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् तुमको पृथक् पृथक् बहुत

(विभूतियाँ को) जानकर क्या करना है ? अतः मेरा ही सर्वत्र दर्शन करो क्योंकि इस सम्पूर्ण जगत् को एक अंश के द्वारा अर्थात् एक देशमात्र धारण करके (व्याप्त करके) मैं ही स्थित हूँ। अतः मुझ से व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं है। श्रुति भी कहती है—'पादोऽस्य विश्वाभूतानि (यजुर्वेद ३१।३, ऋग्वेद ८।४।१७) अर्थात् समस्त भूत (स्थावर तथा जंगमात्मक सृष्ट पदार्थ) इसका एक पाद है।

इन्द्रियद्वारतश्चित्ते बहिर्धावति सत्यपि।
ईशदृष्टिविधानाय विभूतीर्दशमेऽब्रवीत्॥

अर्थात् चित्त इन्द्रियों के द्वारों (दरवाजों) से बाहर विचरण करते रहने पर भी बाहर की दृश्य वस्तु में ईश्वरदृष्टि का विधान करने के उद्देश्य से दशवें अध्याय में विभूतियों का वर्णन किया गया।

(२) शंकरानन्द--इसप्रकार अतिमन्दबुद्धिवाले मुमुक्षुओं की उपासना के लिए तथा यह विश्व परमात्मा का विभूतिविशेष होने के कारण वह परमेश्वर स्वरूप ही है, ऐसे ज्ञान के लिए 'आदित्यानामहं विष्णुः' ('आदित्योंमें मैं विष्णु हूँ') यहाँ से लेकर 'ज्ञानं ज्ञानवतामहम्' (ज्ञानियों में मैं ज्ञान हूँ') यहाँ तक के ग्रन्थ के द्वारा (गीता १०।२१-३८) विभूतिविशेषों का प्रतिपादन कर अब विशेष विभूतिसमूह का ज्ञान एवं उनकी उपासना भी अकिंचित्कर है, इसप्रकार के सूचनद्वारा सविशेष परमेश्वर ही प्रज्ञावान् अधिकारियों की उपासनीय वस्तु है, ऐसा उपदेश करते हुए अध्याय का उपसंहार कर रहे हैं।

मेरी विभूतियाँ अनन्त हैं, इसलिए उनका कथन अथवा परिज्ञान नहीं हो सकता है अथवा—अथवा 'यह मेरी विशेष विभूति है', 'यह मेरी विशेष विभूति हैं', इसप्रकार यद्यपि मेरी अनेक विभूतियाँ कही गई हैं, तथापि शुद्धात्मा, मुख्य अधिकारी तुम हो अतः तव—तुमको बहुना--मेरे सम्बन्धमें अनेक प्रकार के एतेन--इस ज्ञातेन--ज्ञान से किं--क्या फल होगा ? उन विभूतियों के ज्ञान से एवं उनकी उपासना से चित्तशुद्धि, मोक्ष अथवा कुछ भी फल सिद्ध नहीं होता है।

शंका--विष्णु आदि व्यक्तिविशेष भी आप के ही स्वरूप हैं इसलिए उनकी उपासना के द्वारा एवं उनके विषय में ज्ञान के द्वारा मुख्य फल (मुक्तिरूप फल) प्राप्त होगा।

समाधान—नहीं यह शंका युक्त नहीं है क्योंकि विभूतिविशेष भी अनन्त है, इसलिए उनमें ईश्वरबुद्धि करने से अनेक ईश्वरों का ज्ञान होगा, यह मोक्ष का हेतु नही है। फिर विभूतियाँ अनन्त होने के कारण एक पुरुष के द्वारा उनकी उपासना भी नहीं हो सकती एवं उन में (उपासकों में) गुण विशेषों का तारतम्य होने के कारण रागादि रूप मलिनता अवश्य रहेगी अतः चित्त-प्रसाद (चित्तशुद्धि) भी नहीं हो सकता है। तुम मुमुक्षु मुख्य अधिकारी हो अतः तुम एक सर्वात्मक परमेश्वर रूप मेरा ही संसार से मुक्ति पाने के लिए भजन करो, ऐसा सूचन करने के लिए कह रहे हैं—'विष्टभ्य'। अहम्—मैं अर्थात् निर्विशेष परमात्मा ही स्वयम् इदम्—यह परिदृश्यमान्, माया के कार्यभूत स्थावर जंगमात्मक कृत्स्नम्—सम्पूर्ण जगत्—जगत् को एकांशेन—एक अंश के द्वारा—जिस प्रकार निरवयव होने से भी आकाश की मेघमाला के अवच्छेद से मेघाकाश, इस प्रकार विभाग की कल्पना होती है, उस प्रकार ही मुझ निरंश परब्रह्म की भी माया एवं उसके कार्य के अवच्छेद द्वारा उस से उपहित चैतन्य के अंश के रूप से कल्पना होती है। इस कल्पित अंश से 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' (सब स्थावर जङ्गमात्मक भूतवर्ग इस परमेश्वर के पाद है) इस श्रुतिवचन के अनुसार मेरे मायोपाधिक पाद से 'विष्टभ्य' अर्थात् सब ओर से व्याप्त कर स्थित हूँ अर्थात् विश्वरूप से मैं ही स्थित हूँ। 'सहस्रशीर्षं देवम्' (हजार सिर वाले देव को) इत्यादि श्रुतियां में जो विश्वरूप ईश्वर प्रसिद्ध है उस विश्वरूप मेरा (एक अद्वितीय ईश्वर) का ही भजन करो क्योंकि मेरे भजन से ही तुम कृतार्थ होओगे।

(३) **नारायणीटीका**—अव्यक्त, निराकार, निर्गुण, अनन्त, शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा में मायाद्वारा प्रकाशित व्यक्त, रूप-नाम गुणयुक्त, परिच्छिन्न' जड़ चेतनात्मक, विशेष विशेष परिच्छिन्न वस्तु प्रतीत होती है। वे ही उनकी विभूतियाँ मानी जाती हैं। साधारण सृष्टि से उन विभूतियों की विलक्षणता क्या है? उसे पूर्ववर्ती श्लोक में स्पष्ट किया गया है अर्थात् जो विभूतिमत् (ऐश्वर्ययुक्त) श्रीमत् (समृद्धिशाली) एवं ऊर्जित (अत्यन्त उत्साह युक्त) होते हैं उनको ही भगवान् की विभूतियाँ समझनी चाहिए। पारमार्थिक दृष्टि से इन विभूतियों की कोई सत्ता नहीं है क्योंकि वे सभी परमात्मरूप अधिष्ठान से अज्ञान के कारण रज्जुसर्पवत् प्रतीत होते हैं, अतः अन्य सब जागतिक वस्तु के समान वे मिथ्या (कल्पित) ही हैं। इस लिये भगवान् कह रहे हैं कि मेरी सर्वव्यापी परिपूर्ण सत्ता को आवृत्त कर माया से वहु प्रकार से रचित जादू के खेल के समान इन विभूतियों को पृथक् पृथक

रूप से जानने से तुम्हारा क्या लाभ है ? अर्थात् तुम्हारी क्या प्रयोजन सिद्धि होगी ? परिच्छिन्न वस्तु के ज्ञान से पूर्ण ज्ञान होना सम्भव नहीं है। नित्य, सत्य, पूर्ण तथा शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा के अपरोक्ष साक्षात्कारजनित ज्ञान प्राप्त होने पर ही सर्व वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान लेना सम्भव होता है इस लिये श्रुति कहती है—"आत्मनि वा अरे विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" (बृ० उ०) अर्थात् आत्मा को साक्षात् जानने से सब कुछ विज्ञात होता है अर्थात् सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप अनन्त (परिपूर्ण) आत्मा का साक्षात् अनुभव होने पर और कुछ जानने की आवश्यकता नहीं रहती है (क्योंकि आत्मा से अतिरिक्त और जो कुछ विश्व प्रपञ्च में प्रतीत होता है वह स्वयं मिथ्या है— उनके अधिष्ठान स्वरूप आत्मा से उनकी पृथक् कोई सत्ता नहीं है। अतः भगवान् कह रहे हैं कि इतना जान लेने पर ही तुम्हारा सर्व प्रयोजन सिद्ध होगा वह क्या है ? कहते हैं—मेरे अंश मात्र से (एक देश मात्र से) इस समस्त जगत् को विशेष रूप से स्तम्भन कर (व्याप्त कर) मैं स्थित हूँ। भगवान् अनन्त है, अतः उनके कोई अंश अथवा पाद की कल्पना सम्भव नहीं है तथापि जगत् की सभी वस्तु सीमित तथा अंशयुक्त होकर ही आत्मा में अध्यस्त होती है। जैसा घट से अवच्छिन्न आकाश को घटाकाश कहा जाता है उसी प्रकार अंशयुक्त दृश्य पदार्थों के द्वारा अविछिन्न परमात्मा के भी अंश की कल्पना की गयी है। द्वितीयतः अंश शब्द से यह भी सूचित हो रहा है कि भगवान् के सर्व व्यापी परिपूर्ण स्वरूप में माया तथा उसका कार्य-रूप जगत् नहीं रहता है—वे उनके अंश में (एक देशमात्र में) रहते हैं।

इसलिए श्रुति में कहा है--'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' अर्थात् समस्त भूत इस परमेश्वर के एक पादसे व्याप्त है और इसके अमृतमय तीनों पाद प्रपञ्च को छोड़कर अपने दिव्यस्वरूप में स्थित हैं। घट को तोड़ देने पर जिस प्रकार घटाकाश और महाकाश एक हो जाता है उसी प्रकार मायारचित जगत् भ्रान्ति तथा मायान्तर्गत विभूतियों का दर्शन (चित्तवृत्ति के निरोध द्वारा अर्थात् समाधिद्वारा) निवृत्ति होने पर सर्वात्मा, सर्वाधिष्ठान, परमानन्द तथा मोक्षस्वरूप परब्रह्म का ही अनुभव होता रहता है। इसलिए कल्पित विभूतियों को जानने की चेष्टा छोड़कर उनके यथार्थस्वरूप के ज्ञान से (साक्षात्कार से) ही परमपुरुषार्थ (मोक्ष) सिद्ध होता है--अन्यथा नहीं, यह यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं।

भगवान् के निराकार अनिर्देश्य अनन्त तत्त्व में चित्त को समाहित कर उपशान्त होने की सामर्थ्य जिन असाधारण सुकृतिशाली एवं कुशल

व्यक्ति की होती है उनकी संख्या बहुत ही कम है। इसलिये साधारण भक्तों के प्रति कृपा करने के लिये भगवान् ने अपनी विशेष विशेष विभूतियोंका वर्णन किया जिससे वे भक्तलोग अपनी रुचि के अनुसार कोई भी विभूति का अवलम्बन कर निरन्तर चिन्तन के द्वारा उसमें मन को एकाग्र करके भगवान् में समाहित कर सकें। दशवें अध्याय में ध्येय (ध्यान करने के योग्य) तथा ज्ञेय (जानने के योग्य) नानाप्रकार की विभूतियों के वर्णन का तात्पर्य यही है। इसप्रकार विभूतियों की उपासना करने के फलरूप से चित्त-शुद्धि होती है एवं साधक का तब यह ज्ञान होता है कि समस्त विश्व प्रपञ्च की पारमार्थिक कोई सत्ता नहीं है किन्तु माया के प्रभाव से सर्वात्मा सर्वव्यापो परमात्मा के अंश में (एकदेशमात्र में) प्रतीत हो रहे हैं। चलचित्र में कोई वस्तु को पकड़ने के लिये चेष्टा करने पर जैसे उस वस्तु की प्राप्ति न होकर उसका अधिष्ठानरूप सफेद पर्दा ही हाथ में आता है वैसा ही भगवान् की विभूतियों में (अथवा दृश्य प्रपञ्च में) किसी में मन का लय होने पर वह नहीं मिलता है--मिलता है आत्मा या भगवान् का यथार्थ शुद्धचैतन्यस्वरूप जिसके बारे में वेद ने कहा है--'त्रिपादस्यामृतं दिवि' अर्थात् अमृत (विनाश-रहित), दिवि (प्रकाशशील अर्थात् स्वप्रकाशस्वरूप में) स्थित अविकारी, नित्य, शाश्वत, 'तत्' पदार्थ की लक्ष्य वस्तु जो परमार्थस्वरूप विष्णुपद है, वह प्राप्त होता है।

विभूतियों की उपासना का अन्तिम फल है उस परमपद की प्राप्ति। अतः विश्वात्मरूप से विद्यमान मुझ नित्यसत्य तथा पूर्ण (अनन्त) परमात्म-सत्ता को यदि सर्वत्र दर्शन कर सको तो विभूतियों के तत्त्व जानने की आवश्यकता नहीं है--यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥

EOPLE TO REMEMBER